कश्मीरियत
संस्कृति के ताने बाने
पृथ्वीनाथ मधुप

सुरम्य पर्वतमालाओं के मध्य बसा धरती का यह छोटा-सा हिस्सा एक रहस्यलोक की तरह है। इसका इतिहास कम रोमांचक-त्रासद नहीं। इसकी उपज कम अनन्य नहीं। इसकी कलाएँ कम अपूर्व नहीं, इसकी संस्कृति क्षीर-समुद्र के मिथक को पर्यायित करती है। इसके लोग सुघड़ और सुन्दर। पर इनमें छिपी हैं अपने ही प्रकार की कुछ यातना-गाथाएँ, पीड़ाएँ, तपस्यायें और रोमांच-कथाएँ। यह जितनी ही तपःशीला हो, उतनी ही त्रास-दायिनी ढंग से स्वच्छंद और उच्छृंखल भी रही हैं।

'हाँगुल'—जिसे कश्मीर का भावी डायनासोर भी कहा जा सकता है—तेजी से विलुप्त होता जा रहा एक दुर्लभ और विलक्षण जानवर है एवं कश्मीरी पण्डित का प्रतीक भी। इसके सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक में विस्तृत उल्लेख है।

'काँगड़ी'—जिससे शीत का तमाम त्रास आनन्द में बदल जाता है और विश्वप्रसिद्ध है। शीत की दुल्हन भी कहा जाता है इसे। इसके सम्बन्ध में सारी जिज्ञासाओं को प्रस्तुत पुस्तक शान्त करती है।

'डेजिहोर'—इसके आरम्भ का मूल समय की सांस्कृतिक धरा में इतना गहरा धँस चुका है कि कितना भी गहरे चले जाओ सिरा नहीं मिलता। इसका भी रोचक ज़िक्र यहाँ है।

'केसर'—जिसके विषय में महाकवि विल्हण ने कहा कि कश्मीर इस विशेष उपज और कवियों के लिए बनी धरती है, के संदर्भ में पुस्तक में एक परिचयात्मक एवं शोधात्मक विवरण प्रस्तुत है।

यहाँ इन तमाम रोमांचकारी रहस्यों को खोलने का ईमानदार एवं प्रामाणिक प्रयास है। भाषा प्रवाहमय, सरल, चुस्त और शैली बोधगम्य है। कश्मीर के संदर्भ में प्रस्तुत पुस्तक एक अनिवार्य दस्तावेज है।
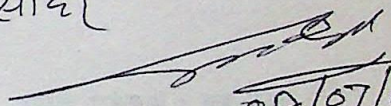
—डॉ० क्षमा कौल

कश्मीरियत

संस्कृति के ताने-बाने

कश्मीरियत

संस्कृति के ताने-बाने

प्रो० (डॉ०) भूषणलाल कौल
को
सादर
02/07/0

पृथ्वीनाथ मधुप

यात्री प्रकाशन

दिल्ली-110094

निधि
और
विभु
के
लिए

क्रम

भूगोल, प्रकृति और लोग-बाग

जम्मू-कश्मीर प्रान्त की तीन इकाइयाँ हैं — जम्मू, कश्मीर और लद्दाख। इन तीनों की अपनी-अपनी विशिष्टताएँ हैं। पर, इस आलेख में हम केवल कश्मीर की ही चर्चा करेंगे। भारत के मानचित्र पर दृष्टि डालने पर ऐसा लगता है जैसे भारत-माता के शीश पर स्वर्ण-मुकुट हो। यह प्रान्त 32° 17' उत्तर से 36° 58' उत्तर अक्षांश के मध्य तथा 73° 26' पूर्व से 80° 30' पूर्व देशान्त के मध्य पड़ता है।[1] इस प्रान्त का क्षेत्रफल 2,22,870 किलोमीटर से कुछ अधिक है।[2] इसके उत्तर में तुर्किस्तान, दक्षिण में पंजाब, पूर्व में तिब्बत और पश्चिम में पाकिस्तान है। यह भारत का वह सीमावर्ती प्रदेश है जिसकी सीमाएँ चीन, अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान की सीमाओं के साथ लगती हैं। इस स्थिति के कारण भारत के अन्य प्रान्तों की अपेक्षा जम्मू-कश्मीर का महत्त्व अधिक है।

कश्मीर घाटी हर ओर से पर्वत शृंखलाओं से घिरी है। इसके उत्तर में नांगापर्वत (26,182 फीट), पूर्व में हरमुख (16,903 फीट), दक्षिण में महादेव - गाशिब्रोर (17,800 फीट) एवं अमरनाथ (17,321 फीट) और दक्षिण-पश्चिम में पीरपांचाल शृंखला, जिसके शिखर 15,000 फीट से भी अधिक ऊँचे हैं, स्थित है। इस घाटी की आकृति अण्डाकार है और लगभग समतल ही है। इसकी लम्बाई लगभग 134 किलोमीटर और चौड़ाई 32 से 40 किलोमीटर तक है। इस घाटी की भूमि अत्यन्त उपजाऊ है। यहाँ के झरने, झीलें, नदियाँ, मेवे, फल, हस्तशिल्प, कलाएँ, साहित्य तथा दर्शन आदि तथा इनसे भी एक कदम आगे यहाँ का अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य संसार-भर में प्रसिद्ध है। यहाँ की प्राकृतिक सुषमा प्रत्येक व्यक्ति को कवि श्रीधर पाठक की तरह यह कहने पर विवश करती है कि - 'यहि अमरन को लोक, यहीं कहुँ बसत पुरन्दर।'

पृथ्वी के इस स्वर्ग की जलवायु न अत्यन्त शीतल और न अत्यन्त गर्म कही जा सकती है। यहाँ अगस्त का महीना सबसे गर्म और जनवरी का सबसे सर्द होता है। यहाँ निम्नलिखित क्रम से विभिन्न ऋतुओं का आगमन होता है :

बसन्त 15 मार्च से 15 मई, ग्रीष्म 16 मई से 15 जुलाई, वर्षा 16 जुलाई से 15 सितम्बर, शरद 16 सितम्बर से 15 नवम्बर और शिशिर 16 नवम्बर से 15 मार्च तक। 16 नवम्बर से 15 जनवरी तक के मौसम को सर्दी और 16 जनवरी से 15 मार्च तक के मौसम को शिशिर कहा जा सकता है, क्योंकि सर्वाधिक ठंड इसी दौरान होती है। प्राय: दिसम्बर से मार्च तक अच्छा-खासा हिमपात होता है। यहाँ का कम से कम औसत तापमान जनवरी के महीने में 29.1 फारनहाइट और अधिक से अधिक औसत तापमान अगस्त के महीने में 74.1 फारनहाइट दर्ज किया गया है।

घाटी की मुख्य उपज धान, सेब, अखरोट और केसर इत्यादि है। चूँकि घाटी के निवासियों का मुख्य भोजन चावल है, अत: धान की उपज के प्रति यहाँ अधिक ध्यान दिया जाता है। यहाँ 3,74,000 एकड़ भूमि पर धान की खेती की जाती है।[3] कश्मीर में धान की खेती कब से आरम्भ हुई, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि आर्यों के आगमन के साथ यह खेती आरम्भ हुई होगी, क्योंकि पुराकाल से कश्मीरी पण्डितों के जन्म से मृत्यु तक के जितने भी संस्कार अथवा तीज-त्योहार होते हैं, उनमें कच्चे-पक्के चावलों का प्रयोग अवश्य होता है। कहा जाता है कि यहाँ धान की पचास किस्में उगाई जाती थीं। इनमें

'मुश्कुँबुदिज्य', 'लूल्य-अंज़ल', 'ख्वोच', 'ग्वदुंक्रुहुन', 'शशतुंरब्योल' तथा 'बासमती' आदि उल्लेखनीय हैं। पिछले कई वर्षों से अब 'चैना' किस्म के धान ही अधिक बोए जाते हैं। धान के अतिरिक्त यहाँ गेहूँ, मक्का तथा जौ आदि की खेती भी होती है।

कश्मीर अपने मीठे व खुशबूदार फलों के लिए संसार-प्रसिद्ध है। यहाँ का अम्बरी सेब यदि किसी कमरे में रखा हो तो उसकी सुगन्ध से पूरा घर महक उठता है। पिछले कई वर्षों में अंबरी सेबों में कोई बीमारी लगने के कारण इनकी उपज बहुत कम हो गई है। अब इन्हें बीमारियों से बचाने के लिए शेरे-कश्मीर कृषि विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। अम्बरी के अतिरिक्त सेबों की अन्य प्रमुख किस्में — उयलिशस, महाराजी, अमरीकन त्रेल तथा किर्युहॉम्य त्रेल आदि भी उगाई जाती हैं। ये सेब विभिन्न रंगों एवं आकारों के होते हैं। 'त्रेल' सेब का लघु रूप है। कश्मीर में 40,000 एकड़ भूमि पर फलों की काश्त होती है, जिससे करोड़ों रुपए की आय होती है। सेबों के अतिरिक्त चेरी, आड़ू, खोबानी, नाश्पाती तथा अखरोट आदि की काश्त भी होती है।

फलों, विशेषकर सेब, के अतिरिक्त जिस कश्मीरी उपज ने पूरे विश्व में नाम कमाया है वह है केसर। केसर का एक नाम काश्मीरज भी है। इससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि संसार-भर में कश्मीर में उगाये जाने वाले केसर का नाम उत्तमता की दृष्टि से प्राचीन काल से ही सर्वोपरि रहा है। घाटी में पाम्पुर (प्राचीन पद्मपुर) के करेवा पर उत्तम किस्म का केसर उगाया जाता है।[4]

किसी भी देश अथवा प्रान्त की भौगोलिक स्थिति एवं कृषि आदि के सन्दर्भ में नदियों तथा जलाशयों का विशेष महत्त्व होता है। इस बात को दृष्टिगत रखते हुए कश्मीर की नदियों एवं झीलों का उल्लेख करना आवश्यक है। कश्मीर में वितस्ता (व्यथ, कश्मीरी) या झेहलम, विशव, लिद्दर, रंभ्यआरा, सुखनाग, दूधगंगा, सिंद तथा फेरोज़पुर नाला नामक नदियाँ बहती हैं। इनमें वितस्ता नदी का बहुत महत्त्व है। इस नदी को यदि घाटी की प्राणधात्री कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। कश्मीर की सभ्यता एवं संस्कृति इसी महान नदी के किनारे जन्मी एवं विकास को प्राप्त हुई। इस नदी का स्रोत व्यथुँवोंतुर नामक चश्मा है जो पीरपांचाल पर्वत के निकट तथा बेरीनाग से थोड़ा नीचे है। इस नदी के साथ, स्थान-स्थान पर अनेक झरने, चश्मे एवं नाले मिल जाते हैं। इनमें से कुछ के नाम हैं—ब्रंगी, कोटिहार, व्वकरनाग, अछिबल, लिद्दर (लम्बोदरी), सिंद तथा दूधगंगा आदि। सिंद वितस्ता के साथ शादीपुर नामक गाँव में मिलती है। यहाँ इनके संगम-स्थल पर कश्मीर का एक प्रसिद्ध तीर्थ प्रयाग है। इसका महत्त्व भी उसी तरह से है जैसे इलाहाबाद स्थित प्रयाग का । शादीपुर के संगम-स्थल पर एक छोटा-सा द्वीप है, जिस पर एक चिनार का वृक्ष शताब्दियों से खड़ा है। जनश्रुति है कि यह चिनार न घटता है और न ही बढ़ता है, अपितु शताब्दियों से इसका आकार एक जैसा ही है। कश्मीर के ऐतिहासिक शहर एवं जनपद, मन्दिर इत्यादि वितस्ता के किनारों पर ही स्थित हैं। वितस्ता के किनारों को अनेक पुलों द्वारा जोड़ा गया है। कश्मीरी पण्डित वितस्ता के प्रकट होने का दिवस यानी जयन्ती 'व्यथुत्रुवाह' (भाद्रपद शुक्ल त्रयोदशी) को मनाते थे। यह जयन्ती बहुत ही उत्साह के साथ वाल्टर आर. लारेंस (1855-1905 ई.) के समय तक बड़ी धूमधाम से मनाई जाती थी। वितस्ता के बड़प्पन एवं उसके भौगोलिक महत्त्व को बखानने वाला एक प्राचीन ग्रंथ है भृंगीश ऋषि द्वारा रचित 'वितस्ता महात्म्य'। आजकल वितस्ता को प्रायः झेहलम नाम से अभिहित किया जाता है। इस सम्बन्ध में वाल्टर आर. लारेंस लिखते हैं : "......कश्मीरी इसे व्यथ कहते हैं, जब यह बारामुला नामक स्थान पर कश्मीर के आगे बढ़ती है तब इसका नाम कॉशुर दरिया पड़ता है और किशन गंगा से मिल जाने के बाद इसे झेलम नदी कहते हैं।"[5]

कश्मीर की झीलों में डल झील, उल्लर, मानसबल, ऑचार, होकरसर, कौंसरनाग, गगुँबल, तारसरमारसर, शेषनाग तथा अनन्तनाग इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इनमें से डल, उल्लर तथा मानसबल सुन्दरतम एवं प्रसिद्धतम झीलें हैं।

डल झील श्रीनगर के निकट की झीलों में सर्वाधिक बड़ी झील है। इसकी लम्बाई 21 मील तथा चौड़ाई 4 मील थी, पर प्रदूषित होने के कारण अब यह काफी सिकुड़ गईं है। इसका पानी भी अब निर्मल नहीं रहा। कभी यह झील संसार के सुन्दरतम स्थलों में पहले नम्बर पर मानी जाती थी। इस झील के एक छोर पर शंकराचार्य नामक पहाड़ी तथा दूसरे छोर पर हरिपर्वत नामक पावन पहाड़ी स्थित है। इस झील के लघु द्वीपों पर नेहरू पार्क तथा चार चिनारी नाम पर्यटन स्थल हैं। चार चिनारी नामक लघु द्वीप दो हैं — पहला द्वीप जिस पर एक विश्राम गृह तथा एक तरणताल बनाया गया है 'वोर्पु लां' के नाम से अभिहित है। बड़ा द्वीप 'स्वनुंलां' के नाम से प्रसिद्ध है। इस झील का पानी बहुत हल्का (soft) है। कहा जाता है कश्मीरी कारीगर जब शालों को डल के पानी से धोते हैं तो शॉलों में भी नर्मी और चमक आ जाती है। डल झील के पानी पर विश्वप्रसिद्ध तैरती वाटिकाएँ (जिन्हें कश्मीरी में राद कहते हैं) भी बनाई जाती हैं। डल के एक भाग के किनारों से गृहनौकाएँ

(हाउसबोट) भी बँधी रहती हैं। इस झील में पर्यटक सर्फ राइडिंग का आनन्द भी ले सकते हैं। विश्वप्रसिद्ध मुग़ल उद्यान भी इसी झील के किनारे बनाये गये हैं।

उल्लर, जिसका वास्तविक नाम उल्लोल (संस्कृत) है, विश्व में मीठे पानी की सब से बड़ी झील है। लारेंस ने इस झील की लम्बाई साढ़े बारह मील और चौड़ाई 5 मील बताई है, पर डॉक्टर ए० एन० रैणा 'ज्योग्राफी ऑफ जम्मू एण्ड कश्मीर' नामक अपनी पुस्तक में इसकी लम्बाई 10 मील तथा चौड़ाई 6 मील बताते हैं। इस झील में खराब मौसम में बहुत ही ऊँची-ऊँची लहरें उठती हैं, अत: उस समय इसमें नौकाएँ नहीं चलाई जा सकतीं। बताया जाता है कि पुराकाल में यहाँ, जहाँ आजकल उल्लर झील है, एक शहर था जो भूकम्प के कारण भूमिगत हो गया। इस भूकम्प के बाद एक ज़बरदस्त बाढ़ आ गई और उल्लर उसी बाढ़ का परिणाम है।

मानसबल नामक झील, लारेंस के अनुसार, 2.40 मील लम्बी तथा 0.47 मील चौड़ी है। यह गहरी झील है तथा इसका पानी स्वच्छ है। अत्यन्त सर्दी पड़ने पर भी यह झील नहीं जमती। इसका कारण यह है कि इस झील में गर्म पानी के अनेक चश्मे हैं। इस झील की पृष्ठभूमि में एक ऊँचा पर्वत है। जब इस झील में कमल खिलते हैं तो इसका सौंदर्य देखते ही बनता है। अन्य झीलों में उपजने वाली कमलककड़ी की अपेक्षा इस झील में उपजने वाली कमलककड़ी कश्मीरियों की दृष्टि में अच्छी होती है।

झीलों से मछली, सिघाड़े, कमल-बीज (Nelunbium speciosum) तथा कमलककड़ी आदि खाद्य पदार्थ प्राप्त होते हैं।

नदियों तथा झीलों के अतिरिक्त कश्मीर में अनेक चश्मे भी हैं। चश्मों का पानी गर्मियों में ठण्डा तथा सर्दियों में गर्म होता है। कश्मीर के चश्मों में बेरीनाग, क्वकरनाग, अछिबल, मार्त्तण्ड, चश्माशाही, बिहामा, तुलमुल तथा नीलनाग आदि उल्लेखनीय हैं। अछिबल का चश्मा कश्मीर के चश्मों में सुन्दरतम है। बेरीनाग गहरा एवं नीले जल वाला चश्मा है। कई चश्मों का पानी गन्धक से युक्त है। इनमें से किसी एक में स्नान करने से त्वचा की बीमारियाँ ठीक हो जाती हैं। ऐसा ही एक चश्मा अनन्तनाग का मलिकनाग है। कई चश्मों में काफी मात्रा में मछलियाँ पाई जाती हैं, पर इन मछलियों का शिकार करना वर्जित है क्योंकि प्राचीन समय से ही प्रत्येक चश्मा किसी न किसी देवता का स्थल रहा है। आजकल भी कई चश्मों के किनारों पर कई देवमूर्तियाँ चिरकाल से प्रतिष्ठित हैं। क्वकरनाग नामक चश्मे का पानी बहुत अच्छा माना जाता है। 'आइने-अकबरी' के अनुसार इस चश्मे का पानी प्यास और भूख दोनों को तुष्ट करता है। चश्माशाही का पानी भी पीने के लिए बहुत अच्छा माना जाता है।[6]

कश्मीर में अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। अनेक किस्मों एवं विविध रंगों के फूलों के लिए कश्मीर दुनिया-भर में प्रसिद्ध है ही, इसके साथ ही यहाँ अनेक प्रकार के घास, जैसे बैरन, लुण्डर, मेथी तथा जॉव आदि भी उगते हैं। यहाँ के जलाशयों में एक विशेष प्रकार की जल-घास, जिसे कश्मीरी में खोरॅ कहते हैं, उगती है। खोरॅ पशुओं के लिए एक उत्तम खाद्य माना जाता है। कहा जाता है कि गाय को खोरॅ खिलाने से अधिक दूध प्राप्त होता है। एक ऐसी घास भी है, जिसे यदि किसी पशु को खिलाया जाए तो उसे उन्माद चढ़ता है। इस उन्मादक घास का नाम 'कंक' है। हज़ारों ऐसी वनस्पतियाँ भी हैं जिनका प्रयोग औषधियों के रूप में किया जाता है। इनमें से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है 'क्वठ' (Costus spacious)। यह औषधि सुगन्ध बनाने, कीटनाशक के रूप में, गठिया का उपचार करने आदि के रूप में प्रयोग की जाती है। इसी प्रकार 'ग्यवथीर', (Adiomtum capitus venisis), 'कुकलिपोठ' (Cuscutasp), 'ब्रारिगासु' (Libiate), 'शाहतर' (Fumaria offceinalus) तथा 'पंजपतॅुर' (Geranium Sp.) इत्यादि अनेक औषधियाँ हैं।

पशुओं में पालतू पशुवर्ग के अतिरिक्त यहाँ अनेक जंगली पशु, जैसे गीदड़, काला रीछ, भूरा रीछ, जंगली बकरा, कस्तूरी हिरण, तेंदुआ, भेड़िया तथा हांगुल इत्यादि पाये जाते हैं। काला रीछ गर्मियों में 10,000 से 12,000 फीट ऊँचाई तक पाये जा सकते हैं। शरद्काल में पहाड़ी ढलानों पर के मक्का के खेत इनके लिए आकर्षण का केन्द्र होते हैं। भूरा रीछ गर्मियों में नंगी-खुली चोटियों पर हिमरेखा से ऊपर पाया जाता है। कस्तूरी हिरण प्राय: सनोबर के जंगलों में पाये जाते हैं। कहा जाता है कि ये 6000 से 13,000 फीट ऊँचाई तक रहना पसन्द करते हैं। हांगुल[7] प्राय: कश्मीर के उत्तरी भाग में पाया जाता है। यह घास की खोज में जंगल-जंगल घूमता है। यह गर्मियों में ऊँचाइयों पर तथा सर्दियों में निचले क्षेत्रों में रहना पसन्द करता है। हाथीग्राम नामक अभयारण्य में ये झुण्डों में पाये जाते हैं। कश्मीर की झीलों, चश्मों तथा नदियों आदि में अनेक प्रकार की मछलियाँ पाई जाती हैं। विशेषज्ञों की राय है कि कश्मीर मछली पकड़ने वालों को कनाड़ा, न्यूज़ीलैंड और आस्ट्रेलिया से भी अच्छे अवसर प्रदान करता है। इस प्रान्त में मछलियों की 36 किस्में पाई जाती हैं। इनमें महासीर और ट्राउट (Trout) नामक किस्में सर्वोत्तम मानी जाती हैं। यह वितस्ता में जुलाई,

गस्त और सितम्बर के महीनों में पाई जाती है। यह मछली हुत ठण्डे और गर्म पानी के संगम स्थल पर रहना पसन्द करती । ट्राउट मछली की दो किस्में — भूरी ट्राउट और रैनबो ट्राउट श्मीर में पाई जाती है। कहा जाता है कि ट्राउट विदेशी मछली , जिसका बीज 1901 ई. में कोई मिस्टर मायकल नामक यक्ति कश्मीर लाया था। इसी व्यक्ति की प्रेरणा से हारवन में इन मछलियों की एक हेचिरी आरम्भ की गई थी। आजकल अनेक नालों में इन मछलियों को पाया जा सकता है। ट्राउट नालों की लम्बाई 350 मील के करीब बताई जाती है। ट्राउट समुद्र तल से 5,000 फीट की ऊँचाई पर ही विकसित हो सकती है। ट्राउट हारवन, अछिबल, सारबल, कुलगाम, इशल, कोतुस तथा फेरोज़पुर नाला में पाई जाती है। कश्मीर में मछलियों की विभिन्न प्रजातियों की देखभाल एवं विकास के लिए जम्मू-कश्मीर सरकार का फिशरीज़ विभाग कार्यरत है। ट्राउट के शिकार के लिए इस विभाग से लाइसेंस लेना पड़ता है। अछिबल, हारवन, लारिबल इत्यादि स्थानों पर कुछ ऐसे ट्राउट फार्म हैं, जहाँ ट्राउट मछली कंट्रोल रेट पर मिलती है।

कश्मीर में निषादों (मल्लाहों) का एक ऐसा वर्ग है जिनकी आजीविका मछली-व्यापार पर ही चलती है। ये निषाद कश्मीर में 'गाड़ॅहॉन्ज़' कहलाते हैं। यह वर्ग चूँकि निरक्षर था, अतः बिचौलिये इनका काफी शोषण करते थे। अब इनकी सहकारी समितियाँ बन गई हैं और ये काफी साक्षर हुए हैं, अतः इनका जीवन-स्तर काफी ऊपर उठ गया है। सहकारी समितियाँ बनने के बाद 12,825 मन मछलियों की प्रतिवर्ष बिकवाली बढ़ कर वर्ष 1961 ई. में 31,250 मन हो गई थी। यह आँकड़ा प्रति वर्ष बढ़त की ओर ही जा रहा है। मछली पकड़ने एवं इसके व्यापार में 5,000 से भी अधिक निषाद-परिवार लगे हुए हैं। मत्स्य-शोध के परिणामस्वरूप निषाद-परिवारों की आर्थिक दशा में निरन्तर सुधार हो रहा है।

कश्मीरी हस्तकला ने संसार-भर में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। यहाँ के कारीगरों द्वारा बुने गये कालीन बहुत ही अच्छे माने जाते हैं। कालीन की बुनाई के लिए सूती और रेशमी धागे का प्रयोग किया जाता है। सूती धागा पंजाब प्रान्त के अमृतसर से मँगाया जाता है। कालीन बनाने के लिए बुनाई करने वालों को पहले प्रशिक्षित किया जाता है। इस प्रशिक्षण को 'तालीम' कहते हैं। 'तालीम' एक विशिष्ट प्रकार की लिपि है जिसका अनुसरण करने से बुनकर विभिन्न रंगों के धागों द्वारा कालीन पर डिज़ाइन उभारता है। कश्मीरी कालीनों की विशेषता यह है कि इन पर उभारे गये डिज़ाइन कश्मीर के प्राकृतिक सौंदर्य से सम्बन्ध रखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन कालीनों पर कश्मीर में पाये जानेवाले फूल-पत्तों तथा पशु-पक्षियों आदि की आकृतियाँ बुनावट द्वारा उभारी जाती हैं। कालीनों के डिज़ाइनों की खोज तथा संग्रह आदि स्कूल ऑफ डिज़ाइन द्वारा होता है। कश्मीर में कालीन बुनने के कई कारखाने हैं। इन कारखानों में बने कालीन विदेशों को भी बेचे जाते हैं। सन् 1979 में कालीन बनाने की कुल दस हजार इकाइयाँ थीं।[8] वर्ष 1978-79 के दौरान 12.10 करोड़ रुपये मूल्य के कालीन विदेशों को भेजे गये।[9] कालीनों की लम्बाई-चौड़ाई प्रायः तीन फुट दो फुट, चार फुट ढाई फुट, पाँच फुट तीन फुट, छह फुट चार फुट, नौ फुट छह फुट तथा बारह फुट नौ फुट होती है। कालीन है तो बिछावन, पर यह किसी कलाकृति से कम नहीं।

एक और बिछावन जो ऊन और रूई के मिश्रण से बनता है, नमदा कहलता है। नमदा एक गर्म और कलात्मक आसन है। पहले ऊन और रूई को अलग-अलग धुना जाता है, फिर दोनों को मिला कर एक चटाई पर इसकी तहें जमाई जाती हैं। एक तह या पर्त लगाने के बाद इस पर साबुन का घोल छिड़का जाता है। फिर दूसरी या तीसरी पर्त भी ऐसे ही जमाई जाती है। पर्तें जमाने एवं उन्हें हाथ से थपथपाने के बाद चटाई को (जिस पर पर्तें जमाई गई हों) चौड़ाई की ओर से गोल-गोल लपेटा जाता है। लपेटने के बाद इसे रस्सियों से बाँध कर किसी समतल स्थान पर दूर-दूर तक पाँव से भार डालते हुए आगे-पीछे लुढ़काया जाता है। जब अनुमान से पता चलता है कि सभी पर्तें जुड़ गईं तो रस्सियाँ खोल कर नमदे को सुखाया जाता है। सुखाने के पश्चात इसे बहुत ही सावधानी से धोया जाता है। धोने और सुखाने के अनन्तर इसे ऐसे ही मंडी में भेज दिया जाता है या इसे विभिन्न रंगों से रँग कर और कढ़ाई करके बेचा जाता है। नमदे कई आकारों एवं कई साइज़ों के बनते हैं। इनकी लम्बाई-चौड़ाई प्रायः तीन फुट दो फुट, चार फुट तीन फुट, छह फुट चार फुट, नौ फुट छह फुट तथा बारह फुट नौ फुट तक की होती है। दुनिया के देशों में अमरीका कश्मीरी नमदों का सबसे बड़ा ग्राहक है। यह देश सन् 1939 ई. से ही कश्मीरी नमदे खरीदता आया है।[10]

अलग-अलग रंगों के ऊनी कपड़ों के टुकड़ों को जोड़ कर और उन पर कढ़ाई करके जो बिछावन अनन्तनाग के किसी निवासी ने बनाया था, उसी का नाम गब्बा पड़ गया। अनन्तनाग ही गब्बे का आविष्कारक एवं निर्माण का केन्द्र माना जाता है, हालाँकि ये अब श्रीनगर, बारामुला तथा अन्य स्थानों पर भी बनाये जाते हैं। आजकल किसी कम्बल या लोई को रँग कर तथा इस पर आकर्षक कढ़ाई कर गब्बा बनाया जाता है। कढ़ाई आवश्यकतानुसार दुगुने या तिगुने ऊनी धागे से की जाती है।

कारीगर की सूझ इसी में है कि वह कढ़ाई करते समय विभिन्न रंगों के धागों का चयन इस प्रकार से करता है कि ग्राहक पर उसका अच्छा प्रभाव पड़े, यानी उसे कुल मिला कर गब्बा आकर्षक एवं कलात्मक लगे। आजकल दुसूती कपड़े पर चेन स्टिच द्वारा कढ़ाई करके भी गब्बे बनाये जाते हैं। यह एक सुन्दर, आकर्षक एवं कलात्मक आसन है, जो कालीन को भी मात देता है और कालीन से इसका मूल्य बहुत कम है। एक साधारण मध्यवर्गीय व्यक्ति भी इसे खरीद सकता है। इनका माप भी नमदे की तरह का ही होता है।

कश्मीर चूँकि एक ठंडा भूभाग है, अत: यहाँ के दिमाग ने एक ऐसी वस्तु का निर्माण किया है जो निरन्तर कम लागत पर गर्मी देती रहती है। इस वस्तु का नाम है 'काँगुॅर' या कांगड़ी। कांगड़ी एक गोल एवं चौड़े मुँह वाले मिट्टी के बर्तन पर एक विशेष प्रकार की लचकीली टहनियों का फ्रेम बुन कर बनाई जाती है। इसके मिट्टी के बर्तन में कच्चे कोयलों को सुलगा कर तापा जाता है। इसे कश्मीरी अपने विशेष पहनावे 'फ्यरन' के अन्दर लेकर तापते हैं। तीलियों से बने इसके हत्थों को पकड़ कर चलते-फिरते भी तापा जाता है। सोते समय इसे रज़ाई क़े अन्दर लेकर रात को भी तापा जाता है। इसे पतली तथा मौंटी तीलियों से, तीलियों को विभिन्न रंगों से रँग कर या बिना रँगे बुना जाता है। इस आधार पर इसकी कई किस्में बन जाती हैं, जिनका मूल्य भी अलग-अलग होता है। कांगड़ी का तापमान 10 डिग्री सेंटीग्रेट से 200 डिग्री सेंटीग्रेड तक का होता है।[11] काँगड़ी निर्माण में च्रार, बोडीपुर, अनन्तनाग आदि स्थानों के हज़ारों परिवार लगे हैं जिससे इन्हें हज़ारों रुपये की अतिरिक्त आय होती है।[12]

कश्मीर की सर्वाधिक विश्वप्रसिद्ध वस्तु है शॉल। कहा जाता है शॉल-उद्योग यहाँ महाभारत काल से भी पहले का है। शॉल पश्मीना ऊन तथा रफल से बनाये जाते हैं। इन पर कश्मीर के कुशल कारीगर अपने सधे हाथों से कढ़ाई करके इन्हें कला का एक विशिष्ट एवं अतुलनीय नमूना बना देते हैं। शॉलों पर बारीक और मोटी दोनों प्रकार की कढ़ाई की जाती है। मोटी कढ़ाई वाले शॉल बारीक कढ़ाई के शॉलों की तुलना में सस्ते होते हैं। शॉल-उद्योग में हज़ारों लोग लगे हैं और इससे प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये की आय होती है। जम्मू-कश्मीर सरकार का 'दि गवरन्मेंट ऑटर्स एम्पोरियम' निर्यात किये जाने वाले शॉलों की क्वालिटी को और बेहतर बनाने के लिए प्रयत्नशील है।

कश्मीरी हस्त-शिल्पियों का एक और कमाल है पापियरमाची या पेपरमाशी। इस हस्त-कला पर कश्मीरियों की इजारादारी है। रूई, चीथड़े, घास और लकड़ी के नर्म गूदे को पानी में भिगो कर तथा बाद में कूट-कूट कर लुगदी बनाई जाती है। इस लुगदी को विभिन्न आकार-प्रकार के साँचों की सहायता से अलग-अलग आकृतियों की वस्तुओं में ढाला जाता है। ये वस्तुएँ प्राय: गुलदान, पाउडर के डिब्बे, टेबल लैम्प्स, कागज़ काटने के चाकू, ज़ेवर के डिब्बे, शृंगारदान, टाई-केस, बैंगलकेस तथा अन्य उपयोगी एवं सजावटी सामान आदि होती हैं। लुगदी से ढली इन वस्तुओं को सुखा कर इन पर विभिन्न डिज़ाइन चित्रित किये जाते हैं और इनमें विभिन्न रंग भरे जाते हैं। ये डिज़ाइन प्राय: कश्मीर की प्रकृति की प्रतिकृति होते हैं : जैसे कमल, चिनार के पत्ते, कमलिनी के पत्ते, मछलियाँ, विभिन्न पक्षी, पोलो के दृश्य, बादाम तथा विभिन्न राजा-महाराजाओं से सम्बन्धित दृश्य इत्यादि। पहले-पहल पापियरमाची का काम पीढ़ी-दर-पीढ़ी तथा घरों में किया जाता था, पर अब इस काम की शिक्षा देने के लिए विभिन्न स्थानों पर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इन केन्द्रों में कोई भी व्यक्ति इस काम को सीख सकता है। पापियरमाची का सामान राजकीय आर्ट्स एम्पोरियम द्वारा विदेशों में भी भेजा जाता है। इसका मूल्य प्रतिवर्ष लगभग दो करोड़ रुपये का होता है।

लकड़ी तथा चाँदी का काम भी कश्मीर में खूब होता है। लकड़ी का काम अधिकतर श्रीनगर के फतेह कदल, ज़ैना कदल, सफा कदल, काड़ी कदल तथा रैनावारी के क्षेत्रों में होता है। कहा जाता है कि इन क्षेत्रों में इस काम की लगभग 300 इकाइयाँ हैं। जब बढ़ई को बाहर कोई काम नहीं मिलता, तब वह अपने घर में ही अखरोट की लकड़ी पर तरह-तरह के लुभावने डिज़ाइन उभार कर अनेक उपयोगी कलात्मक वस्तुओं का निर्माण करता है। इन वस्तुओं में ट्रे, सिगरेट केस, शेविंग बॉक्स, टेबल लैंप तथा टेबुल सेट्स आदि होते हैं। इन वस्तुओं पर भी कश्मीर की विभिन्न प्राकृतिक वस्तुओं को ही उभारा जाता है। यह उद्योग अधिकांशत: पर्यटकों पर निर्भर है पर बगदाद, सिंगापुर, अदन और लन्दन को भी इन वस्तुओं का निर्यात किया जाता है।

यहाँ के दक्ष हस्तशिल्पी चाँदी का काम भी अत्यन्त दक्षता से करते हैं। इस काम के लिए प्रति वर्ष 50,000 तोले चाँदी अमृतसर तथा दिल्ली से मँगाई जाती है। लकड़ी के काम की तरह ही यह काम भी घरों में किया जाता है। चाँदी से बनी वस्तुओं पर अनेक प्रकार के मनमोहक डिज़ाइन उभारे जाते हैं। चाँदी से प्राय: सिगरेट केस, ट्रे, गिलास, चाय व कॉफी सेट्स तथा साबुनदानियाँ इत्यादि बनाई जाती हैं। इन वस्तुओं के निर्माताओं के पास आकर्षक शोरूम्स हैं। पर्यटक इन्हीं शोरूम्स से अपनी रुचि की वस्तुओं का चयन करते हैं। विदेशी पर्यटकों

के लिए ये शोरूम्स आकर्षण का विशेष केन्द्र होते हैं।

कश्मीर के वनों से प्राप्त लचीली एवं टिकाऊ टहनियों से भी कश्मीरी हस्तशिल्पी अनेक प्रकार की वस्तुएँ बुनते हैं। इन टहनियों या सींकों से काटने-छीलने और भिगोने एवं रँगने के पश्चात् जो वस्तुएँ बुनी जाती हैं उनमें प्रमुख हैं — टोकरियाँ, पर्दों के रिंग, सोफा सेट्स, कुर्सियाँ, मेज़ तथा सन्दूक इत्यादि। पिछले कई दशकों से फ्रांस से आयातित एक झाड़, जिससे लचीली टहनियाँ प्राप्त होती हैं, कश्मीर में लगाये गये हैं। इस झाड़ को लगा कर अनेक किसानों ने अपने लिए अतिरिक्त आय का साधन बना लिया है। इस झाड़ से प्राप्त सींकें भी उत्तम किस्म की होती हैं। कहा जाता है कि वनाधारित इस उद्योग में दो हज़ार से अधिक लोग लगे हैं, जो प्रतिवर्ष चार लाख रुपये से अधिक मूल्य की वस्तुओं का निर्माण करते हैं।

सरकार द्वारा ऊनी और रेश्मी कपड़ा बनाने के दो उद्योग चलाये जा रहे हैं। ऊनी मिल के लिए पचास प्रतिशत से अधिक कच्चा माल स्थानीय रूप से पूरा किया जाता है और शेष ऊन आस्ट्रेलिया, यू. के. और न्यूजीलैण्ड से आयातित किया जाता है। इस मिल में पट्टू, सर्ज, वर्स्टिड, कम्बलों तथा लोइयों आदि का निर्माण किया जाता है। मुख्य मिल श्रीनगर के करण नगर क्षेत्र में मेडिकल कॉलेज के पिछवाड़े स्थित है। सन् 1971 के एक ब्यौरे के अनुसार इस मिल में 1,140 वर्स्टिड धुरे, 18 पावरलूम और 44 हथकरघे हैं। इस मिल का वार्षिक व्यय लगभग 17.43 लाख रुपये है। सर्वप्रथम यह कारखाना सन् 1934 ई. में श्री ए. के. वातल ने स्थापित किया था। बाद में सरकार ने इसे अपने हाथ में लिया। सन् 1947 ई. तक प्रति वर्ष इस मिल में 15,00,000 रुपये मूल्य के उत्पाद बेचे जाते थे।

कश्मीर में रेशम उद्योग कब से आरम्भ हुआ, यह कहना बहुत कठिन है। कई पुरातत्त्ववेत्ता अनुमान लगाते हैं कि सम्भवतः बुरज़ुहोम सभ्यता के लोग (जिनके युग को नियोलिथिक युग कहते हैं) रेशम के कपड़े बुनना जानते थे। इनके इस अनुमान का आधार बुरज़ुहोम की खुदाई में प्राप्त एक टाइल है। यह टाइल तीन हज़ार वर्ष पुरानी है और इस पर एक महिला आकृति बनी है जिसका परिधान बहुत बारीक रेशम से बना लगता है। एक ऐतिहासिक प्रमाण जो इस सम्बन्ध में मिला है, वह है चीनी यात्री ह्वेन सांग का यात्रा विवरण। ह्वेन सांग सन् 630 ई. में कश्मीर आया था। अपने यात्रा-विवरण में यह चीनी यात्री लिखता है कि कश्मीर में रेशम एक जंगली कीड़े से बनता है और बाज़ार विभिन्न प्रकार एवं रंगों के ऊनी और रेश्मी कपड़ों से अटे हैं। खैर, रेशम उद्योग ने धीरे-धीरे अपनी विकास यात्रा तय की और सन् 1871 ई. से इस उद्योग पर सरकारी नियन्त्रण आरम्भ हुआ। सन् 1907 ई. में रामबाग में इस उद्योग को वैज्ञानिक स्तर पर विकसित करने के लिए रेशमखाना (या रेशम घर) स्थापित किया गया। इसके विकास का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि सन् 1919 ई. तक इसकी वार्षिक आय बारह लाख रुपये तक पहुँच गई। आजकल रेशम का धागा 'सिल्क फैक्टरी', जो श्रीनगर से कुछ ही किलोमीटर दूर हवाई अड्डा पथ पर स्थित है, में बनता है। यहाँ लगभग 5,000 से अधिक श्रमिक काम करते हैं। इस कारखाने में प्रिंटिड सिल्क साड़ियाँ तथा टेबी सिल्क का निर्माण भी होता है। दूसरी फैक्टरी राजबाग़ में है। इसका नाम 'राजबाग सिल्क वीविंग फैक्टरी' है। यहाँ अनेक प्रकार की साड़ियाँ तथा रेशमी कपड़े बनते हैं। कश्मीर का रेशम जापान तथा फ्रांस के रेशम की तुलना में अधिक चमक वाला तथा टिकाऊ होता है। इस कारण लोग कश्मीरी रेशम को अधिक पसन्द करते हैं। कई लोगों ने निजी तौर से भी कई हथकरघे लगा रखे हैं। एक अनुमान के अनुसार ऐसी 105 से अधिक इकाइयाँ श्रीनगर में कार्यरत थीं।

वनाधारित उद्योगों में राजकीय ज्वाइनरी मिल, पांपोर, हॉफ-रॉट फैक्टरी (Half-Wrought Factory) बारामुला और दि कश्मीर विलोज़ उल्लेखनीय है। पांपोर की ज्वाइनरी मिल मकानों के लिए खिड़कियाँ, दरवाज़े आदि बनाती है। दि कश्मीर विलोज़ क्रिकेट के बल्ले, हत्थे तथा अन्य लकड़ी का सामान बनाती है। इस फैक्टरी में 62,000 रुपये से अधिक की वार्षिक बिकवाली हुआ करती थी।

वुयन नामक स्थान में सरकार ने सीमेंट का कारखाना लगा रखा है, जिसमें पिछले कई वर्षों से सीमेंट का उत्पादन हो रहा है।

कश्मीर के प्राचीनतम निवासी सम्भवतः बुर्जुहोम के खड्डनिवासी रहे होंगे, परन्तु आर्यों के आने से पहले यहाँ नाग रहते थे। आर्य यहाँ लगभग पाँच हज़ार वर्ष पहले आये। ये आर्य यहाँ आने से पहले सरस्वती नदी के किनारे पर निवास करते थे।[13] जब यह नदी सूख गई तो इसके किनारों पर के वासी इन स्थानों को छोड़ कर देश के अन्य स्थानों पर गये। इन्हीं में से एक समूह कश्मीर आया और नागों से स्वीकृति लेकर यहाँ बस गया। कालान्तर में यही लोग कश्मीरी पण्डित नाम से विख्यात हुए। कश्मीरी पण्डित ब्राह्मणों की सारस्वत शाखा से सम्बन्ध रखते हैं। सर मोनियर विलियम्ज़ अपनी पुस्तक, 'मॉडर्न इण्डिया एण्ड दि इण्डियन्ज़' में लिखते हैं 'दि कश्मीरी पण्डित्स आर अमंग दि फाइनेट टाइप्स ऑफ दि आरियन रेस।'

यानी कश्मीरी पण्डित आर्यों की सर्वोत्तम जाति में से हैं। इसी सम्बन्ध में तथा कश्मीरी पण्डितों की शक्ल-सूरत के बारे में जार्ज केंब्यल का कथन है कि "दि कश्मीरी ब्राह्मंस आर क्वोटॅर हाइ आर्येन्ज़ इन दि टाइप। दे आर वेरी फेयर एण्ड हैण्डसम, विद हाइचिज़ुॅल्ड फीचर्स एण्ड नोट्रेस आफ इनटरमिक्सचर ऑफ दि ब्लड ऑफ एनी लोवर रेस।" आर्य प्रजातियों में कश्मीरी ब्राह्मण सर्वोत्तम हैं। वे बहुत गोरे और सुन्दर हैं। ये तीखे नाक-नक्श वाले हैं। इन्होंने अपने खून से किसी नीच जाति के खून को मिलने नहीं दिया है। ये कश्मीरी मुसलमानों की अपेक्षा आकर्षक व्यक्तित्व वाले तथा सभ्य एवं सुसंस्कृत हैं।[14] ये सब के साथ आसानी से मिल जाते हैं तथा किसी भी परिस्थिति के अनुसार अपने को ढाल लेते हैं। ये कठोरता से ब्राह्मण धर्म का अनुपालन करते हैं, पर छुआछूत की भावना इनसे सदा दूर रही है। कभी भी किसी भी परिस्थिति में इनका विश्वास हिंसा में नहीं रहा। इनका विश्वास दिमाग़ और क़लम की ताकत पर रहा है और इसी के बल पर सदा सर्वोच्च स्थान और आदर पाते रहे हैं। कश्मीरी पण्डितों के स्वभाव आदि के बारे में कश्मीरी भाषा में अनेक कहावतें विद्यमान हैं। इनमें से एक है — "मुठ ठोठ कटस, क़लम टोठ बटस।" इसका अर्थ है कि जिस प्रकार एक भेड़ को 'मुठ'[15] बहुत पसन्द है, उसी प्रकार कश्मीरी पण्डित को क़लम प्यारी है। इसी बात को जॉर्ज केंब्यल यों कहते हैं, "दे रूल बाई दि ब्रेन एण्ड दि प्यन एण्ड नॉट बाई दि सोड।" 'वे (कश्मीरी पण्डित) दिमाग़ और क़लम से शासन करते हैं, तलवार से नहीं।' इसी के बल पर इन्होंने अनेक संसारप्रसिद्ध कवि, काव्यशास्त्री, दार्शनिक, वैयाकरण, इतिहासकार, नाटककार, आयुर्वेदाचार्य, शिल्पकार तथा चित्रकार इत्यादि पैदा किये हैं। कश्मीर में पाकिस्तान-पोषित आतंकवाद के पराकाष्ठा पर (1989 के मध्य से) पहुँचने पर ये लोग अपने घर एवं सम्पत्ति छोड़कर अपनी माँ-बहन-बेटी की इज़्ज़त बचाने की खातिर तथा आतंकियों की धमकियों एवं सैंकड़ों अलगाववादियों के हाथों कश्मीरी पण्डितों की हत्याओं से त्रस्त हो देश के अन्य स्थानों पर चले जाने के लिए विवश हो गये।[16] हालाँकि इनके विस्थापन के लिए केन्द्र सरकार अपनी गलत नीतियों के कारण पूरी तरह से ज़िम्मेदार है, लेकिन फिर भी इनकी कठिनाइयों की ओर कोई ध्यान नहीं दे रहा। सम्भवतः एक कारण यह भी है कि कश्मीरी पण्डित एक वोट-बैंक नहीं है। अस्तु यदि परिस्थितियाँ ऐसी ही रहीं तो इस बुद्धिजीवी समुदाय का भविष्य क्या होगा, यह बिल्कुल स्पष्ट है।

हिन्दू धर्मावलम्बियों के अतिरिक्त कश्मीर में मुसलमान बहुत अधिक संख्या में हैं। बहुसंख्यक होने के कारण पिछले कई वर्षों से घाटी में इनका वर्चस्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। चौदहवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों तक कश्मीर की आबादी हिन्दुओं की ही थी, परन्तु इस शताब्दी के मध्य तथा अन्तिम वर्षों में काफी लोगों को इस्लाम कबूलवाया गया। इस दिशा में शाहि हमदान और उसके अनुयायियों ने बहुत उत्साह से काम किया। इसके बाद सुल्तान सिकन्दर बुतशिकन ने हिन्दुओं पर घृणित अमानवीय अत्याचार ढाये, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू अत्यल्पसंख्यक समुदाय में परिवर्तित हो गये, क्योंकि अत्याचारों से तंग आकर कइयों ने विष खाकर आत्महत्या की, कइयों को मरवाया गया, कई अपनी जन्मभूमि को छोड़ भाग गये और जो बाकी बचे उन्हें मुसलमान बनाया गया।[17] कहते हैं इस दौरान घाटी में हिन्दुओं के ग्यारह घर ही रह पाये थे। इस प्रकार अधिसंख्य कश्मीरी मुसलमानों की नसों में हिन्दुओं का खून ही बहता है। ऐसे बहुत कम मुसलमान हैं जो मुग़लों या पठानों के वंशज हैं। कश्मीरी मुसलमान प्रमुखतः शिया और सुन्नी दो सम्प्रदायों में विभक्त हैं। इनके प्रमुख व्यवसाय कृषि, व्यापार, पशुपालन और नावें खेना इत्यादि हैं। पशुपालन गोजरों का व्यवसाय है जिनके बारे में कहा जाता है कि ये मूलतः राजस्थान के राजपूत हैं जो वहाँ से यहाँ आकर पहाड़ों पर रह रहे हैं। यहाँ आने के बाद इन्हें भी मुसलमान बनाया गया पर इनमें और कश्मीरी मुसलमानों में बहुत अन्तर है। आज से कुछ वर्ष पहले मुसलमान इतना साक्षर नहीं था, जितना आज है। फिर भी कश्मीरी पण्डितों की तुलना में, जिनका साक्षरता- प्रतिशत लगभग सौ प्रतिशत है, मुसलमानों का साक्षरता प्रतिशत बहुत कम है।

हिन्दुओं और मुसलमानों के अतिरिक्त कश्मीर में सिख पंथ के अनुयायी भी रहते हैं। इनकी आबादी ज्यादातर त्राल तथा सिंगपोर नामक गाँवों में है। इनका व्यवसाय कृषि, व्यापार तथा सरकारी नौकरी है।

कश्मीरियों का भोजन चावल और एक विशेष प्रकार का साग है, जिसे कश्मीरी में 'हाखव' कहते हैं। यहाँ के सभी लोग मांस-मछली बड़े चाव से खाते हैं। कश्मीरियों का विशेष पहनावा फॅयरन, साफा तथा टोपी है।

कश्मीर में सभी धर्मों के लोग आपस में मिल-जुलकर रहते आये हैं। इस भूभाग ने देश के अन्य भागों की तरह साम्प्रदायिक दंगे-फसाद नहीं देखे हैं। सन् 1947 में जब पूरा देश सम्प्रदायिकता की आग में जल रहा था, जम्मू-कश्मीर ही एक ऐसा प्रान्त था जहाँ इस आग की एक चिन्गारी भी नहीं उठी। इसी आपसी भाईचारे को देख कर राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को कश्मीर में 'रोशनी की किरण' नज़र आई थी। कश्मीर

में भाईचारे का कारण हिन्दू-मुसलमानों के खून का एक होना, त्रिकदर्शन, ललद्यद और नुंदऋषि तथा अन्य दार्शनिकों एवं सूफियों आदि का प्रभाव है। पर विडम्बना यह है कि इस भाईचारे और मेलजोल में दरार डाली जा रही है। दरार डालने की यह नापाक कोशिश बहुत समय से की जाती रही है।

संदर्भ

1. देखिए 'ज्योग्रॉफी ऑफ जम्मू एण्ड कश्मीर', लेखक : डा. अर्जुननाथ रैणा।
2. 'हिस्ट्री ऑफ जम्मू एण्ड कश्मीर', लेखक : के. के. कपूर।
3. देखिए — 'ज्योग्रॉफी ऑफ जम्मू एण्ड कश्मीर' लेखक डॉ. ए. एन. रैणा, पृष्ठ 60
4. केसर की पूरी जानकारी के लिए इसी पुस्तक का 'केसर-कथा' नामक अध्याय पढ़िए।
5. ....it is known to the Kashmiries as the Veth. When it leaves Kashmir at Baramulla it is called the Kashur Darya and after joining the Kishanganga, it is spoken of as the Jhelum river.

   — Valley of Kashmir by Walter R. Lawrance. Page 17-18; 1895 edition.
6. देखिए, Geography of Jammu & Kashmir by Dr. A. N. Rain (1971 Edition) Page N. 32
7. हांगुल के बारे में पूरी जानकारी इसी पुस्तक में एक अलग अध्याय में दी गई है।
8. देखें 25 दिसम्बर, 1979 का 'टाइम्स ऑफ इण्डिया'।
9. हेंडीक्राफ्ट विभाग के एक विवरण के आधार पर।
10. पाक्षिक 'जम्मू-कश्मीर समाचार' (प्रकाशक : सूचना विभाग, जम्मू-कश्मीर सरकार) अंक : 3, 1993 में प्रकाशित लेखक के एक लेख के आधार पर।
11. देखें, ज्योग्राफी ऑफ कश्मीर : डॉ. ए. एन. रैणा पृष्ठ-100 (1971 संस्करण)
12. विशेष विवरण के लिए इसी पुस्तक का 'कांगड़ी' नामक अध्याय देखें।
13. Recent research, particularly of Dr. V. S. Wakankas, conducted with sophisticated instruments, such as multi-spectoral scanner, have clearly established that the Saraswati was not a mythological rever. It actually existed and flowed from the foothills of the Himalayas through what is now the Thar desert to the Run of Kutch on the Arabian Sea. It dried up because its main tributary, the Saltuj, changed its course, approximately at a right angle, consequent to geological changes.

   — Plight of Kashmiri Pandits by Shri Jagmohan, published in the Daily Ekcelsion, Jammu reproduced in Kashyap Samachar, Jan. 95.
14. ...they are distinctly good looking, and show more sighnes of refinement and breeding than the Musalmans. The Valley of Kashmir by Sir Walter Lawrence Ed. 1895, Page N. 304.
15. (कश्मीरी शब्द) उड़द के दाने जैसा, पर आकार में इससे बड़ा हल्के पीले रंग का अनाज।
16. As a part of the overall frame-work of terrorism, practically the entire community, totelling about 2,50,000 was made to flee the vally. The strategy adopted was to 'Kill one and frighten on thousand' and simultaneously arouse religious frenzy and spread hatered against the Pandits by describing them as 'informers' of the centre and agents of Brahminical imperialism.'

   — Shri Jagmohan in 'Plight of Kashmiri Pandits', publjshed in The Daily Excelsior, Jammu & reproduced in KASHYAP SAMACHAR, Jammu, Jan. 95.
17. To complete their mad scheme, the Hindus were offered the choice of Islam, exile or death. Then all the available literature on Hindu religion and culture was collected and sunok in the Dull Lake and the extant Conseway, known as Sad-2-Ishobari was built upon this material.

   — 'A History of Muslim rule in Kashmir' by Dr. R. K. Parimu, 1969, edition, Page 125.

इतिहास के झरोखे से

कश्मीर से सम्बन्धित उक्त बातों से परिचित होने के पश्चात इस भूभाग के इतिहास की एक झलक देखना भी रुचिकर रहेगा। पौराणिक[1] आधार पर कहा जाता है कि पुराकाल में कश्मीर एक विशाल सरोवर था। इस महासरोवर का नाम था सतीसर। इस सरोवर में जलोद्भव नाम का एक दैत्य रहता था। जलोद्भव जब छोटा था तो उसे ब्रह्मा से वरदान मिला था कि जब तक तुम पानी में रहोगे, तुम्हें कोई मार नहीं सकेगा। बड़ा होने पर जलोद्भव अत्यन्त हिंस्र और क्रूर बनता गया। सरोवर के इर्द-गिर्द ऊँचाइयों पर रहने वाले इसकी हरकतों से बहुत तंग आ गये। अन्त में नील ने अपने पिता कश्यप ऋषि से इस विनाशकारी दैत्य से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना की। कश्यप ऋषि ने ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश से इस दैत्य को समाप्त करने के लिए विनती की। विष्णु जलोद्भव के वध को तैयार हो गये पर यह दैत्य सतीसर के पानी में छिप गया। उसे पानी से निकालने के लिए पर्वत काटे गये। सतीसर का पानी भीषण प्रवाह से गर्जन करता हुआ बह निकला। जब जलोद्भव पानी में छिप न सका तो उसने माया से अंधकार फैला दिया। शिव ने उसकी इस चाल को भी प्रकाश करके नाकाम कर दिया और विष्णु भगवान ने श्रीचक्र से दैत्य का सिर काट दिया। पानी बहने से जो भूमि निकली उस पर मूल वासियों सहित अनेक लोग बस गये।

कश्मीर का नाम कश्मीर क्यों पड़ा, इसके विषय में कहा जाता है कि कश्मीर की भूमि क्योंकि पहाड़ों के दुर्गम पत्थरों से पानी को बहाकर निकाली गई है, इसीलिए इस भूभाग का नाम कश्मीर पड़ा है। 'कश्मीर' शब्द क + अश्मनः + ईर से बना है। 'क' संस्कृत नें पानी, 'अश्मनः' पहाड़ों के दुर्गम पत्थर तथा 'ईर' निकालने या बहाने के अर्थ में आता है। स्पष्ट है कि इस भूभाग का नाम भी उक्त पौराणिक बात को कि कश्मीर पुराकाल में एक सरोवर था, प्रमाणित करता है। इतना ही नहीं, आधुनिक भूगर्भ विज्ञान भी इस बात का सप्रमाण अनुमोदन करता है।

जम्मू-कश्मीर प्रदेश की ग्रीष्मकालीन राजधानी श्रीनगर के निकट बुर्ज़ुँहोम की खुदाई से प्राप्त प्रमाणों के आधार पर कहा जाता है कि कश्मीर घाटी में 2,000 ई. पू. के आसपास से लोग बसते रहे होंगे। यह भी कहा जाता है कि नाग यहाँ के प्राचीनतम निवासी थे। आर्य यहाँ 800 ई. पू. आये।

कल्हण द्वारा रची गई विश्वप्रसिद्ध कृति 'राजतरंगिणी' कश्मीर के प्राचीन इतिहास का एक प्रामाणिक दस्तावेज़ है। इस ग्रंथ की रचना करने से पहले कल्हण ने अनेक प्राचीन ग्रंथ, शिलालेख तथा दान-पत्र आदि का अवलोकन किया था।[2] इस ग्रंथ के आधार पर कहा जा सकता है कि गौड़ कश्मीर का पहला ज्ञात राजा था। यह राजा मगध के राजा जरासन्ध का सम्बन्धी एवं मित्र था। यह जरासन्ध की सहायता के लिए उसके पास गया पर वहाँ श्रीकृष्ण-जरासन्ध युद्ध में श्रीकृष्ण द्वारा मारा गया। गौड़ के बाद इसका पुत्र दामोदर कश्मीर के सिंहासन पर बैठा। राजा दामोदर अपने पिता के हत्यारे से बदला लेने चल पड़ा, परन्तु यह भी श्रीकृष्ण द्वारा मारा गया। श्रीकृष्ण की सहायता से राजा दामोदर की विधवा यशोवती कश्मीर की शासिका बनी। सिंहासनारूढ़ होने के समय वह गर्भवती थी। इसने जो पुत्र जना, वही कालान्तर में अपनी जननी के बाद राजा बना। इसका नाम था गौड़ द्वितीय। गौड़ द्वितीय के बाद कश्मीर ने कम से कम 43 राजाओं का शासन देखा। इन राजाओं के विषय में बताया गया है कि ये अत्यन्त अशक्त थे। इसके बाद वह दौर आया जब महाराज अशोक (232-273 ई.) ने अपने राज्य का विस्तार किया और कश्मीर को भी इसमें मिला लिया। अपने शासन-काल में अशोक ने बुद्धमत को कश्मीर में काफी प्रोत्साहित किया। इन्होंने विजयेश्वर के प्राचीन शिव मंदिर का भी जीर्णोद्धार कराया। श्रीनगर शहर की नींव भी अशोक ने ही (पुरानाधिष्ठान जो आज का पाद्रेठन हो गया है) रखी। अशोक के बाद इसका पुत्र जालुक कश्मीर का शासक बना। इसके शासन काल में कई बौद्ध विहारों को गिरवाया गया और कई शिव-मन्दिर बनवाये गये, क्योंकि अब तक उत्तर भारत में फिर से वैदिक धर्म की लहर प्रबल हो गई थी।

तत्पश्चात कुशाणों का दौर आया। कुशाण राजाओं में से तीन राजा बहुत प्रसिद्ध हुए। इनके नाम क्रमशः कनिष्क, हुष्क और जुष्क थे। इन्होंने क्रमशः कनिष्कपुर (आधुनिक कॉनिसपोर), हुष्कपुर (आधुनिक हुष्कर) तथा जुष्कपुर (आधुनिक ज़कूरा) नामों से तीन ग्राम बसाये। ये तीनों ग्राम कश्मीर के बारामुला ज़िले में स्थित हैं। इन तीनों में राजा कनिष्क सर्वाधिक शक्तिशाली था। इसने अपने राज्य का विस्तार उत्तर-पश्चिमी भारत तथा मध्य एशिया तक किया। इसने बौद्ध

धर्म के प्रचार के लिए बहुत कार्य किये। स्वयं बुद्धमत की दीक्षा ली, कश्मीरी प्रचारकों को बुद्धमत का प्रचार करने के लिए मध्य एशिया तक भेजा। चौथी बौधसभा कश्मीर में करवाई।

कुशाणों के बाद हूणों का ज़माना आया। हूण राजाओं में से राजा मिहिरकुल (515-550 ई.) का नाम उल्लेखनीय है। यह राजा बहुत ही क्रूर स्वभाव का था। कहा जाता है कि अपने मनोरंजन के लिए यह राजा ऊँचे पर्वतों से जीवित हाथियों को गिरवाता था। गिरते-गिरते हाथी भयंकर रूप से चिंघाड़ते थे। यह चिंघाड़ राजा को आनन्द देती थी। सम्भवत: यह स्वभाव राजा को अपने पिता तोरमाण से मिला था। क्योंकि तोरमाण ने तीन करोड़ व्यक्तियों का वध किया था, इसीलिए इसकी चिढ़ 'त्रिकोटिहन' थी। हूणों के बाद गौड़ों ने फिर से राज्य पर अधिकार कर लिया। गौड़ द्वितीय के वंशजों में राजा मेघवाहन का नाम उल्लेखनीय है। इस राजा ने पशुओं की बलि समाप्त की। इस राजा के बाद अनेक राजा हुए जिन्होंने अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। राजा गोपादित्य ने ज्येष्ठेश्वर मन्दिर का निर्माण गोपाद्रि (आधुनिक शंकराचार्य पहाड़ी) पर करवाया। मातृगुप्त नामक राजा अपने सन्त स्वभाव के कारण प्रसिद्ध हुए। इसी के पुत्र प्रवरसेन द्वितीय ने आधुनिक श्रीनगर (जो अशोक द्वारा बसाये गये पुरानाधिष्ठान से तनिक दूरी पर है) बसाया।

इसके बाद कारकूट वंश के राजा कश्मीर के राज-सिंहासन पर बैठे। इस वंश के संस्थापक राजा दुर्लभवर्धन (627-649 ई.) थे। इसी राजा के राज्यकाल में प्रसिद्ध चीनी यात्री हेनसांग कश्मीर आये। हेनसांग ने इस राजा के विषय में लिखा है कि ये राजा बहुत शक्तिशाली हैं और एक विशाल देश पर राज करते हैं। इस वंश के राजाओं में चन्द्रापीड, ललितादित्य, मुक्तापीड और जयापीड के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से राजा ललितादित्य (724-761 ई.) बहुत प्रसिद्ध हुए। ये बहुत ही बहादुर राजा थे। इन्होंने अपने राज्य का बहुत विस्तार किया। ये दक्षिण में कावेरी नदी के तट तक, पश्चिम में कोंकण और काठियावाड़ तक और पूर्व में बंगाल तक पहुँचे। इन्होंने लद्दाख और तिब्बत के कुछ पश्चिमी भाग पर भी अधिकार जमा लिया। एक वीर और विजयी राजा के अतिरिक्त इनकी छवि एक महान प्रशासक और भवन-निर्माता के रूप में भी अक्षुण्ण है। इन्होंने कई मन्दिर, स्तूप तथा विहार बनवाये। मन्दिरों में प्रसिद्धतम मन्दिर मार्त्तण्ड मन्दिर का निर्माण इन्होंने ही करवाया। इसके अतिरिक्त इन्होंने कई शहरों का निर्माण भी कराया। हालाँकि ये धर्मप्राण हिन्दू एवं विष्णु-भक्त थे, पर बौद्धमत को भी आदर की दृष्टि से देखते थे। बौद्धधर्म के लिए इन्होंने बहुत कुछ किया। इसी कारण इनके समय को बौद्धमत का स्वर्ण काल कहा जाता है। धार्मिक होने के साथ ही ये कला-पारखी एवं कला-मर्मज्ञ थे। कन्नौज से भवभूति तथा वाग्पतिराज को इन्होंने ही अपने दरबार में बुलाया था। इनके बाद इनके वंश के जो राजा सिंहासन पर बैठे, वे बहुत ही अकुशल एवं अशक्त प्रमाणित हुए और इसी कारण नौवीं शताब्दी के मध्य में इस वंश का अन्त हो गया।

महाराजा ललितादित्य के बाद कश्मीर के इतिहास में जिस राजा का नाम उल्लेखनीय है, वे हैं महाराजा अवन्तिवर्मा। महाराजा अवन्तिवर्मा (855-883 ई.) का शासनकाल सुख, समृद्धि और शान्ति का रहा। इन्होंने प्रजा के हित को ध्यान में रखते हुए विकास कार्यों, कृषि, सिंचाई, निकास तथा पशुसंवर्धन की योजनाओं की ओर ध्यान दिया। अपने समय के महान अभियन्ता सुय्य की सहायता से इन्होंने अनेक सिंचाई व निकास योजनाएँ सफलतापूर्वक सम्पन्न कराईं। इन्होंने अवन्तिपुर नामक शहर की स्थापना की। अवन्तिस्वामी तथा अवन्तीश्वर नाम से दो मन्दिरों का निर्माण कराया। अपने महान अभियन्ता सुय्य की माता सुय्या के नाम पर सुय्यापुर (आधुनिक सोपोर) की स्थापना सुय्य से कराई। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक कवियों, पण्डितों एवं साहित्यकारों को प्रोत्साहित किया। रमठ तथा कलठ भट्ठ इत्यादि साहित्यकार इनके दरबार में इनका प्रोत्साहन पाते रहे। जब इनका अन्तिम समय आया तो रोग-शय्या पर पड़े-पड़े बड़े मनोयोग से श्रीमद्भगवतगीता के श्लोकों को सुनते रहे और इन्हीं श्लोकों का अमृत पान करते हुए इहलीला समाप्त की।

इनके बाद गुप्तकाल का उदय हुआ। गुप्तवंशीय राजाओं में से इस वंश के दूसरे राजा क्षेमगुप्त (950-958 ई.) के साथ दिद्दा का विवाह हुआ। क्षेमगुप्त की मृत्यु के बाद दिद्दा रानी अपने बेटे तथा पौत्र के राज-प्रतिनिधि के रूप में 958-980 ई. तक तथा शासिका के रूप में 980-1003 ई. तक शासन की बागडोर सँभाले रही। दिद्दा रानी अत्यन्त बुद्धिमान एवं अति सुन्दर नारी थी। यह स्वभाव से हठी थी पर जब तक रही, शासन की बागडोर अत्यन्त दृढ़ता के साथ थामे रही। श्रीनगर में इसके नाम पर दिद्दामर नामक मुहल्ला आज भी इसकी याद दिलाता है।

1320 ई. में एक मंगोल लड़ाके, दुलचा, ने कश्मीर पर आक्रमण किया। इस समय सुहदेव कश्मीर का शासक था, जो बहुत ही अकुशल एवं कायर था। यही कारण है कि दुलचा और उसके साथियों ने जहाँ जो मिला उसे लूटा तथा अनेक शहरों और गाँवों को आग लगा दी। इसी अराजकता के माहौल में लद्दाख से रेंचन कश्मीर में आया। इसे सुहम ने शरण दे दी। कश्मीर में चूँकि अराजकता व्याप्त थी, अत: रेंचन ने इसका

पूरा-पूरा लाभ उठाया। इसने सुहभट्ठ के प्रधानमंत्री रामचन्द्र को, जिसने दुलचा के अत्याचार के समय अपने आपको कश्मीर नरेश घोषित किया था, मरवा दिया। इस प्रकार रेंचन कश्मीर का शासन हथियाने में सफल हुआ। शासन हथिया कर इसने रामचन्द्र की बेटी कोटारानी से विवाह किया। राज्य-व्यवस्था को व्यवस्थित कर रेंचन ने शाहमीर को शासन-प्रभारी बना दिया। रेंचन आम जनता के साथ घुलने के लिए हिन्दू बनना चाहता था, पर एक षड्यन्त्र रच कर इसे मुसलमान बना दिया गया। मुसलमान बनने के बाद इसका नाम सदरुद्दीन रखा गया। इसकी मृत्यु 1338 ई. में हुई। यह अपने पीछे एक नाबालिग बच्चे को छोड़ गया, जिसका नाम हैदर था। सदरुद्दीन की मृत्यु के बाद सुहदेव के भाई उदयनदेव को सिंहासनारूढ़ कर दिया गया। उदयनदेव स्वयं को सशक्त बनाना चाहता था, अत: उसने रेंचन की विधवा कोटारानी से विवाह कर लिया। शासनतंत्र को वास्तव में कोटारानी ही चलाती रही, क्योंकि उदयनदेव आलसी और अशक्त राजा ही सिद्ध हुआ। कुछ समय के पश्चात कश्मीर पर फिर आक्रमण हुआ। उदयनदेव लद्दाख भाग गया। कोटा रानी और शाहमीर ने मिल कर आक्रमणकारी को खदेड़ दिया। उदयनदेव लौट आया और 1338 ई. में इसकी मृत्यु हुई। पति की मृत्यु के बाद कोटारानी ने अपने आपको कश्मीर की शासिका घोषित किया। इस बात पर कोटारानी और शाहमीर में ठन गई। शाहमीर विजयी हुआ। शाहमीर कोटारानी से विवाह करना चाहता था। उसने उसके सामने प्रस्ताव भी रखा, पर कोटारानी ने अपने पेट में कटार घोंप कर आत्महत्या कर ली। इस प्रकार कश्मीर में हिन्दू शासन-काल का जो कुल मिला कर समृद्धि, शान्ति और विकास का युग था, अन्त हो गया। 1339 ई. में कश्मीर में मुस्लिम शासन का दौर आरम्भ हुआ।

शाहमीर के बाद जिस सुल्तान का नाम उल्लेखनीय माना जाता है, वह है शाहमीर का पौत्र सुल्तान शहाबुद्दीन (1354-1373 ई.)। शहाबुद्दीन का हिन्दुओं के साथ अच्छा व्यवहार रहा। इसने राजनीतिक अराजकता समाप्त कर सैन्य संगठन किया। हालाँकि इसके ज़माने में बाढ़ों का प्रकोप छाया रहा पर इसने बाढ़-पीड़ितों की काफी सहायता की। इसने हरि पर्वत के निकट ऊँचाई पर एक नगर बसाया जिसका नाम लक्ष्मी नगर रखा गया। इसके बाद इसके छोटे भाई ने तख्त सँभाला। इसका नाम था हिन्दाल। हिन्दाल ने कुतुबुद्दीन की उपाधि धारण करके शासन चलाया। कुतुबुद्दीन के समय में ही एक कट्टर मुसलमान अलीशाह हमदानी कश्मीर में प्रविष्ट हुआ। इसके प्रभाव एवं प्रचार से हिन्दू विचारधारा एवं भावनाओं से ओतप्रोत कश्मीर में इस्लामी तौर-तरीके बहुत पाबन्दी के साथ लागू किये जाने लगे।

इस्लामीकरण एवं इस्लामी कट्टरवाद उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच गया जब सुल्तान सिकन्दर (1389-1413 ई.) कश्मीर के तख्त पर बैठा। इसके दौर में कोई ऐसा मन्दिर या तीर्थ न बचा जिसे तोड़ा न गया। इसकी इस करतूत के कारण ही इतिहास में इसे 'सिकन्दरे बुतशिकन' यानी सिकन्दर मूर्तिभंजक के नाम से अभिहित किया गया है।[3] हिन्दुओं के मन्दिरों एवं तीर्थों को ही मूर्तिभंजक ने अपना निशाना बनाया हो, ऐसी बात नहीं, उसने अपने राज्य में हिन्दुत्व को मिटाने का ही बीड़ा उठाया। नृत्य, नाटक-संगीत इत्यादि निषिद्ध घोषित किये गये। हिन्दुओं को तिलक लगाने की मनाही की गई। इन पर एक विशेष कर, जज़िया नाम से, लगाया गया। यह देखने के लिए कि लोग इस्लाम के नियमों का पालन करते हैं या नहीं, उसने 'शैखुल इस्लाम' नाम से एक संस्था बनाई। जब इन सब कारनामों से भी संतुष्टि नहीं मिली तो हिन्दुओं का धर्मपरिवर्तन करवाया। इस काम के लिए उसने अपने प्रधानमंत्री मलिक सैफुद्दीन को लगाया। ऐलान किया गया कि हिन्दू मरने के लिए तैयार रहें, वे या तो मुसलमान बनें या कश्मीर छोड़ कर भाग जाएँ। जो हिन्दू अपना धर्म-परिवर्तित नहीं करना चाहते थे, वे मरने के लिए तैयार हो गये। बहुतों ने ज़हर खाकर अपना प्राणान्त किया, कइयों ने अपने धर्म के प्रति दृढ़ आस्था का परिचय देने के लिए मुसलमानों के हाथों कटना ही श्रेयस्कर समझा और कुछ अपनी जड़ों को उखाड़ कर भारत के अन्य भागों में चले गये। जो बचे, उन्हें मुसलमान बनाया गया। कहा जाता है कि जिन कश्मीरी हिन्दुओं की हत्या की गई उनके जनेऊ, जिनका वज़न सात मन से अधिक था, जला दिये गये। हिन्दुओं के धार्मिक ग्रंथ, साहित्य तथा अन्य विषयों के करोड़ों ग्रंथ डल झील में डुबो दिये गये। इस अत्याचार के परिणामस्वरूप समूची कश्मीर घाटी में हिन्दुओं के मात्र ग्यारह परिवार ही शेष बचे।[4] मन्दिरों को गिराकर और मूर्तियों को तोड़ कर जो सामग्री मिली उससे मसजिदें या अन्य भवन बनवाये गये।[5]

बुतशिकन के बाद इसका बेटा अलीशाह शासक बना। इसने भी अपने बाप की नीतियों को ही अपनाया।

फिर सुल्तान ज़ैनुलआबिदीन (1420-1470 ई.) का दौर आया। यह दौर कश्मीर के लिए शान्ति, समृद्धि और विकास का दौर रहा। अपनी जनहित सम्बन्धी नीतियों एवं कट्टरवादिता के त्याग के कारण जनता ने 'बड़शाह' यानी बड़े बादशाह की उपाधि दी। हिन्दुओं के प्रति सहिष्णु रहने को लेकर बड़शाह

के बारे में दो जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। "कहा जाता है कि बादशाह मरणासन्न था, जब एक हिन्दू जोगी उसके पास आया और उसे अपनी आत्मा देने के लिए तैयार हुआ। शर्त यह रखी कि उसकी काया को किसी सुरक्षित स्थान पर सुरक्षित रखा जाए। बादशाह ने जोगी की आत्मा तो ली पर उसके शरीर को जलवा डाला। इस घटना के बाद कश्मीर का वास्तविक बादशाह ज़ैनुलआबिदीन नहीं, अपितु हिन्दू योगी था।"[6] यह भी कहा जाता है कि ज़ैनुलआबिदीन को एक ज़हरीला फोड़ा निकला। एक से एक बड़े हकीम से इलाज करवाया पर कोई सफलता न मिली। अन्त में दूरदराज़ के किसी गाँव के एकान्त स्थान से एक हिन्दू वैद्य को, जिसका नाम श्रीभट्ठ था, बुलवाया गया। श्रीभट्ठ के इलाज से फोड़ा ठीक हो गया और सुल्तान को नया जीवन मिला। सुल्तान ने खुश होकर श्रीभट्ठ को बहुत सारा इनाम देना चाहा, पर श्रीभट्ठ ने इसके प्रति अपनी अनिच्छा दिखा दी। सुल्तान के ज़ोर डालने एवं अनुनय-विनय करने पर श्रीभट्ठ ने कश्मीर से गये हिन्दुओं को वापस बुलाने, उन्हें अपने धार्मिक अनुष्ठान एवं पूजा-अर्चना फिर से करने तथा जज़िया हटाने इत्यादि के लिए कहा। सुल्तान ने इसके लिए हाँ कर दी। इस प्रकार हिन्दू लौट आये और उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता भी मिल गयी। खैर जो हो, बड़शाह ने सहिष्णुता की नीति अपनाई। गिराये गये मन्दिरों को फिर से बनवाने की आज्ञा मिली। कश्मीरी पण्डितों को ज़िम्मेदारी के पदों पर नियुक्त किया गया। संगीत-साहित्य और कला के उत्थान के लिए सार्थक प्रयत्न किये गये। अनेक विकास-योजनाओं पर कार्य हुआ और उन्हें पूरा किया गया। सिंचाई के लिए नहरें खुदवा कर कृषि की काफी प्रगति हुई। कई नये जनपद बसाये गये, जिनमें ज़ैनपोरा, ज़ैनाकूट तथा ज़ैनगिरि इत्यादि कुछ नाम हैं। हिन्दू शास्त्रों तथा महाभारत को अरबी में अनूदित करवाया। इतने बड़े एवं मानवीय गुणों से युक्त सुल्तान के पुत्र बहुत ही निकम्मे और अयोग्य निकले। इस पर इतिहास को भी अफसोस रहा है।

अगले एक सौ बीस वर्षों ने धीरे-धीरे सुल्तानों के शासन को समाप्ति तक पहुँचा दिया। सुल्तानी शासन के पतन के समय ही एक मुग़ल सेनानी मिर्ज़ा हैदर कश्मीर में प्रविष्ट हुआ। सुल्तानों की कमज़ोरी ने उसे शीघ्र ही तख़्त पर बिठा दिया। कुछ समय बाद ही इसके शासन का भी पतन हुआ और कश्मीर का शासन चकों के हाथ में आया। चकों में अन्तिम दो चक यूसुफ शाह और याक़ूब शाह इस कारण उल्लेखनीय हैं कि युसुफ शाह ने सुप्रसिद्ध कश्मीरी कवयित्री हब्बाख़ातून से शादी की और याक़ूब शाह ने अकबर की सेना का मुकाबला करने की हिम्मत की।

1589 में मुग़लों ने कश्मीर का शासन सँभाला। यहाँ की व्यवस्था चलाने के लिए एक सूबेदार को नियुक्त किया गया। अकबर स्वयं तीन बार, 1589, 1598 और 1601 में यहाँ आये। अकबर के बाद जहाँगीर छह बार कश्मीर आये। इस दौर में कुछ सड़कें बनीं और सती-प्रथा को बन्द कर दिया गया। जहाँगीर के बाद शाहजहाँ सत्तारूढ़ हुए। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में ही कश्मीर में विश्वप्रसिद्ध बाग़ बने। औरंगज़ेब ने भी कश्मीर पर 49 वर्षों तक योग्यता से शासन किया। इनके राजकाल में 14 सूबेदारों को कश्मीर भेजा गया। इनके द्वारा भेजे गये एक सूबेदार इफ्तिखार खान (1671-1675 ई.) ने कश्मीरी ब्राह्मणों पर बहुत अत्याचार किये। उसके अत्याचारों से तंग आकर कई ब्राह्मण नौवें सिख गुरु, गुरु तेग़बहादुर जी के पास अपनी व्यथा-कथा सुनाने एवं इस संकट से उभारने की प्रार्थना लेकर गये। गुरु महाराज ने उन्हें काफी सान्त्वना दी और मुग़ल शासकों को यह सन्देश देने को कहा कि अगर वे (मुग़ल शासक) गुरु तेग़बहादुर जी को इस्लाम धर्म कबूल करवाने में कामयाब हों तो कश्मीर के सभी ब्राह्मण स्वेच्छा से इस्लाम धर्म कबूल करेंगे। इसका परिणाम यह हुआ कि गुरु महाराज को अपना बलिदान देना पड़ा। औरंगज़ेब की मौत के साथ ही मुग़ल शासन का पतन हुआ और कश्मीर का शासन अफ़गानों के हाथ लगा। अफ़गानों के शासन काल में भी कश्मीरी पण्डितों पर बहुत अत्याचार हुए। कश्मीरी पण्डितों पर जुल्म ढाने वालों में लालख़ान खटक, फकीरुल्ला असद खाँ और जब्बार ख़ान क्रूरता की मिसाल आप थे। इनके बारे में कहा गया है कि "ये किसी का सिर उसी आसानी से काटते थे जैसे कोई फूल तोड़ रहे हों।" असद खाँ कश्मीरी पण्डितों को घास के बोरों में दो-दो करके बँधवा लेता और उन्हें डल झील में डुबवा देता। अपना मनोरंजन करने के लिए वह एक घड़े में विष्ठा भरवा देता और किसी कश्मीरी पण्डित के सिर पर धरवा कर मुसलमानों को उसे पत्थर मारने के लिए कहता। जब घड़े के टूट जाने पर गंदगी कश्मीरी पण्डित की आँखों तक में चली जाती तो यह खुश हो-होकर हँसता।[7] कुल मिलाकर अफ़गान शासन अमानवीयता एवं क्रूरता का शासन था।

अफ़गानों के कुशासन से तंग आकर बीरबल धर ने महाराजा रंजीत सिंह को कश्मीर पर आक्रमण करने का निमन्त्रण दिया। उन्होंने इस निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया और इस प्रकार कश्मीर में सिखों का शासन आरम्भ हो गया। सिखों का शासन काल 1819 से लेकर 1846 तक, यानी कुल 27 वर्ष रहा। इन 27 वर्षों में 10 गवर्नर कश्मीर की व्यवस्था सँभालने आये। यह शासन काल अफ़गान शासन काल की तुलना में बहुत अच्छा रहा।

सिखों के पश्चात महाराज गुलाब सिंह ने अंग्रेजों से बयनामा अमृतसर के अंतर्गत, जो 16 मार्च, 1846 को किया गया, कश्मीर को प्राप्त किया और डोगरा शासन की नींव रखी। डोगरा शासन लगभग सौ साल तक रहा। इन वर्षों के दौरान चार राजाओं ने शासन किया। ये चार राजा थे — गुलाब सिंह (1846-1857), रणवीर सिंह (1857-1885), प्रताप सिंह (1885-1925) और हरिसिंह (1925-1952)। हालाँकि 26 अक्तूबर 1947 को कश्मीर का विलय भारत के साथ हुआ, पर डोगरों का पुश्तैनी शासन 1952 में ही समाप्त किया गया।[8] राजा गुलाब सिंह ने कश्मीर के शासन को व्यवस्थित किया था और लद्दाख तथा गिलगित पर विजय प्राप्त करके अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ाया था। डोगरा शासकों के युग में शान्ति रही। शैक्षिक संस्थाएँ खोली गईं तथा भूमिसुधार कानून लागू किये गये।

सन् 1947 ई. में भारत-विभाजन के पश्चात पाकिस्तान ने कबाइली आक्रमणकारियों को कश्मीर पर आक्रमण करने के लिए भेजा। चूँकि कश्मीर का विलय भारत में हो गया था, इस कारण तत्कालीन भारत सरकार ने भारतीय सेना को इन आक्रमणकारियों को खदेड़ने के लिए भेजा। आक्रमणकारी तो खदेड़ दिये गये पर कश्मीर के एक भाग पर पाकिस्तान का नाजायज़ कब्ज़ा हो गया, जो आज भी कायम है। लेकिन कश्मीर में लोकराज की स्थापना पहली बार हुई।

संदर्भ

1. देखिए : नीलमत्पुराण
2. दृष्टैश्च पूर्वभूभर्तृ प्रतिष्ठावस्तुशासनैः।
   प्रशस्तिपट्टैः शास्त्रैश्च शान्तोऽशेषभ्रमक्लमः।।
   — राजतरंगिणी : प्रथम तरंग, पन्द्रहवाँ पद्य
3. .... but the destruction of the Kashmirian temples is universally attributed, both by history and by tradition, to the bigotted Sikanders iwhose idol breaking zeal procured him the tytle of but Shikan.
   — The Valley of Kashmir, by Walter R. Lawrence, 1895, Page 166.
4. देखिए : 'दि वेली ऑफ कश्मीर', लेखक : वाल्टर आर. लारेंस, 1895, पृष्ठ 191.
5. Thus every Mohamadan building in Kashmir is constructed either entirely or in part of the ruins of Hindu temples. — वही, पृष्ठ 167.
6. वही, पृष्ठ 192.
7. देखिए : 'दि वेली ऑफ कश्मीर', लेखक : वाल्टर आर. लारेंस, 1895, पृष्ठ 197.
8. देखिए : 'माइ फ्रोज़न टरबूलेस इन कश्मीर', लेखक : जगमोहन

भाषा और साहित्य

कश्मीरियों की भाषा कश्मीरी है। कश्मीरी इसे 'कॉशुर' कहते हैं। अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की तरह इसकी उत्पत्ति भी संस्कृत से हुई है। इतना ही नहीं, इस भाषा में वैदिक संस्कृत के अनेक शब्द विद्यमान हैं, जैसे वैदिक संस्कृत शब्द यदुवय, तक्ष तथा वस्त आदि कश्मीरी में योदपय, तछुन तथा वस्तुॅ आदि के रूप में विद्यमान हैं। एक ही भाषा—संस्कृत—से विकसित होने के कारण कश्मीरी और हिन्दी में निकटता के कई सूत्र विद्यमान हैं। खड़ी बोली के अनेक शब्द, जैसे, इसलिए, जैसे, तन तथा मन आदि शब्द ज्यों के त्यों कश्मीरी में बोले जाते हैं। हिन्दी की बोलियों—ब्रज, राजस्थानी, भोजपुरी तथा हरियाणवी आदि के कई शब्द कश्मीरी में भी उन्हीं अर्थों में प्रयुक्त होते हैं; जैसे ब्रज का 'जुव', 'निन्दरिया' (न्यन्दुर) तथा 'उन्हारि' (अनहार); राजस्थानी के 'सा' (स) तथा 'रूण' (रून) आदि शब्द; भोजपुरी के 'नून' तथा 'घिउ' (ग्यव) आदि शब्द। और तो और, डॉ. भोलानाथ तिवारी द्वारा अभिहित हिन्दी की एक नयी बोली ताज़ुज़्बेकी और कश्मीरी में आश्चर्यजनक सीमा तक शब्द-साम्य है। ताज़ुज़्बेकी के शब्द नाइशकर (गन्ना), बेल (बेलचा), माम (मामा), यख (ठण्डा), यि (यह), लेफ (रजाई), हमसोय (पड़ोसी), तबर (कुल्हाड़ी) तथा कुल्फ कश्मीरी कुलुफ (ताला) वैसे के वैसे कश्मीरी में भी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कश्मीरी और आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में बहुत सीमा तक समानता है।

कश्मीरी लगभग दस हज़ार वर्ग मील के क्षेत्र में बोली जाती है। कश्मीर घाटी के अतिरिक्त यह कष्टवार, रामबन तथा पुंछ आदि पर्वतीय स्थानों में भी बोली जाती है। कई शोधकर्ताओं के अनुसार यह भाषा हिमाचल प्रदेश के चम्बा क्षेत्र के चालीस गाँवों मे भी बोली जाती है। रोमा जाति के लोगों की भाषा में भी कश्मीरी के अनेक शब्द पाये गये हैं। कश्मीरी की बोलियाँ कष्टवारी, पोगली, सिराज़ी तथा रामबनी हैं।[1] 1971 की जनगणना के अनुसार पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर को छोड़कर कश्मीरी भाषा को बोलने वालों की संख्या बीस लाख के करीब हैं।[2]

उच्चारण-भेद के आधार पर कश्मीरी को निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है—

1. कमराज़ी : श्रीनगर के उत्तर और पश्चिम के क्षेत्रों में जो कश्मीरी बोली जाती है उसी को कमराज़ी कहा जाता है। इसका मुख्य केन्द्र सोपोर (प्राचीन सुय्यापुर) नामक जनपद है।
2. यमराज़ी : श्रीनगर और इसके आसपास जो कश्मीरी बोली जाती है, उसे यमराज़ी कहा जाता है। इसे ही कश्मीरी का शुद्ध और परिनिष्ठत रूप माना जाता है।
3. मराज़ी : कश्मीर के दक्षिण-पूर्वी क्षेत्रों में बोली जाने वाली कश्मीरी को मराज़ी कहा जाता है। इसका मुख्य केन्द्र अनन्तनाग नामक जनपद है।

कश्मीर में मुसलमानों के आने के बाद यहाँ की भाषा पर फ़ारसी का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया। अनेक फ़ारसी शब्द कश्मीरी में मिल गये और इसी प्रकार कश्मीरी छन्द विलुप्त होते गये और इनकी जगह फारसी छन्दों ने ली। फारसी के अत्यधिक प्रभाव से युक्त कश्मीरी 'मुस्लिम कश्मीरी' और इसके अल्प प्रभाव वाली 'हिन्दू कश्मीरी' से पुकारी जाने लगी। इन दोनों भाषाओं का भेद उच्चारण को दृष्टि में रखते हुए भी किया जा सकता है। कुछ ऐसे शब्द हैं जिनका उच्चारण हिन्दू एक तरीके से और मुसलमान दूसरे तरीके से करता है, उदाहरणार्थ 'ब्रोर' (हिन्दू)—ब्योर (मुसलमान), खुॅन्य (हिन्दू)—खिन्य (मुसलमान), दॅह (हिन्दू)—दाह (मुसलमान), गॉन्ठ (हिन्दू)—गान्ठ (मुसलमान) इत्यादि। पर यह उच्चारण-भेद कुछ इने-गिने शब्दों तक ही सीमित है।

कश्मीरी की मूल लिपि शारदा (ब्राह्मी का एक रूप) थी। पर आजकल इसका प्रयोग नहीं होता। स्वतन्त्रता के बाद फ़ारसी या नस्तालीक़ लिपि में थोड़ा परिवर्तन कर कश्मीरी के लिए प्रयोग किया गया जिसे सरकारी मान्यता भी मिली। इस लिपि की कुछ सीमाएँ होने के कारण यह कश्मीरी के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हो रही। देवनागरी लिपि कश्मीरी के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हो रही है। यह दिल्ली तथा जम्मू से प्रकाशित दो पत्रिकाओं, 'कॉशुर समाचार' तथा 'कश्यप समाचार', के कश्मीरी अनुभागों ने सिद्ध कर दी है। भावनात्मक एकता को पुष्ट करने के लिए भी कश्मीर के लिए देवनागरी लिपि ही उपयुक्त सिद्ध हो सकती है।

कहना और सुनना मानव की एक सहज एवं नैसर्गिक प्रवृत्ति है। इसी प्रवृत्ति ने लोक-साहित्य को भी जन्म दिया

है। जब जनसाधारण के विचार एवं भाव अनायास ही किसी कथा, गीत, कहावत या पहेली आदि का रूप लेकर प्रस्फुटित होते हैं, उसे लोक-साहित्य कहा जाता है। चमत्कृत करना, बाँधे रखना और हृदय को छू लेना आदि इसके गुण हैं। लोक-कथाओं के पात्र प्रायः राजा-रानी-राजकुमार, परियाँ, डाइनें, जिन्न, असाधारण शक्ति या बुद्धि के व्यक्ति तथा मूर्ख आदि होते हैं। लोक-गीत ब्याह-शादी, प्रेम तथा दुख-सुख आदि से सम्बन्धित जनमानस से अनायास ही धाराप्रवाह रूप से प्रस्फुटित हुए पद्यमय भाव होते हैं। लोकोक्ति में अनुभव या तथ्य की बात संक्षेप में चमत्कारपूर्ण ढंग से कही गई होती है।

लोकसाहित्य ऐतिहासिक तथ्यों, सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं तथा स्वच्छन्द भाषा एवं इसके विशेष शब्दों को अपने में सुरक्षित रखते हैं। इस कारण लोक-साहित्य का अध्ययन ऐतिहासिक, सामाजिक तथा भाषा-वैज्ञानिक आदि दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न प्रान्तों एवं देशों के लोक-साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन इन प्रान्तों या देशों को एक दूसरे के बहुत निकट ला सकता है। इस प्रकार लोक-साहित्य एकात्मता एवं विश्व-बन्धुता का प्रसार करने में बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। सृजनात्मक साहित्य की नींव भी लोक-साहित्य को ही माना गया है। अतः किसी भाषा-साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से भी लोक-साहित्य अपना एक विशेष स्थान रखता है। किसी भी देश के लोक-साहित्य में उस देश एवं राष्ट्र की संस्कृति का अमित भण्डार भरा रहता है, इसलिए सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से भी लोक-साहित्य का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

कश्मीर के इतिहास, संस्कृति, भाषा एवं सामाजिक जीवन आदि का परिचय प्राप्त करने के लिए यहाँ के लोक-साहित्य का अध्ययन अनिवार्य है। कश्मीरी लोक-साहित्य एक अतल समुद्र की तरह है। इसे एकत्रित कर लिपिबद्ध करने में बहुत समय लग सकता है, पर इसका आशय यह नहीं कि इस निधि को एकत्र कर लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता। जम्मू-कश्मीर अकादमी ने इस ओर ध्यान देकर अनेक लोक-गीतों, लोक-कथाओं तथा कहावतों को विभिन्न विद्वानों द्वारा एकत्रित करा कर इनके कई-कई भाग प्रकाशित किये हैं। कई कश्मीरी लोक-कथाओं को हिन्दी में अनूदित करा कर 'कश्मीरी लोक-कथाएँ' नाम से श्री श्यामलाल शर्मा के सम्पादन में प्रकाशित किया गया है। कश्मीरी लोक-गीतों का चयन एवं हिन्दी अनुवाद 'वाणी वितस्ता की' तथा 'कश्मीरी श्रेष्ठ लोकगीत' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इनका पद्यानुवाद क्रमशः श्री पृथ्वीनाथ मधुप तथा डॉ. जियालाल हण्डू ने किया है। कश्मीरी लोक-कथाओं के एक वृहद् संग्रह के हिन्दी अनुवाद का कार्य अकादमी ने अपने हाथ में लिया है।

कई विदेशियों ने भी कश्मीरी लोक-साहित्य का कुछ उपकार कई लोक-कथाओं, कहावतों और मुहावरों का संकलन कर किया। जॉन हिल्टन नावेल्स ने 'फोक टेल्स ऑफ कश्मीर', ऑरेल स्टाइन ने 'हातिम्स टेल्स' तथा नावेल्स ही ने 'डिक्शनरी ऑफ कश्मीरी प्रॉवर्ब्स एण्ड सेइंग्स' नाम से पुस्तकों का प्रकाशन करवाया।

इस दिशा में अभी बहुत काम बाक़ी है। कश्मीरी लोक-साहित्य के अन्वेषकों एवं विद्वानों को चाहिए कि इस ओर ध्यान देकर इस निधि को लुप्त होने से बचाएँ।

कश्मीर प्राचीन काल से ही संस्कृत भाषा एवं साहित्य का केन्द्र रहा है। यहाँ के विद्वानों, कवियों एवं साहित्यकारों ने अपने चिंतन, काव्य, काव्यशास्त्र, इतिहास, नाटक आदि अनेक क्षेत्रों में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जो इनकी दृष्टि से ओझल रहा हो। कामशास्त्र तक को भी इन्होंने अनछुआ नहीं रखा। यहाँ का सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ 'नीलमत्पुराण' है। इस पुराण में संवाद-शैली में कश्मीर के महाभारतकालीन इतिहास की एक झलक, यहाँ के भूगोल, विभिन्न उत्सवों तथा व्रतों आदि का वर्णन है। कश्मीर की पवित्रता का जिक्र करते हुए कहा गया है कि यहाँ पृथ्वी के सभी तीर्थ हैं। यहाँ नागों के पवित्र स्रोत, पवित्र पर्वत-शिखर, पुण्यसलिला नदियाँ, सरोवर, देवालय तथा आश्रम हैं।[3]

पुराण-साहित्य ही नहीं, कश्मीर ने इतिहास-लेखन में भी अपना योगदान दिया है। दुनिया-भर के इतिहास-ग्रंथों में कल्हण पण्डित द्वारा रचित 'राजतरंगिणी' का सर्वोपरि स्थान है। इस ऐतिहासिक काव्य में आदिकाल से लेकर 1150 ई. तक के कश्मीर का इतिहास क्रमबद्ध रीति से प्रस्तुत किया गया है। 'राजतरंगिणी' की रचना से पहले कल्हण ने 'नीलमत्पुराण' तथा अन्य इतिहास सम्बन्धी कृतियाँ, शिलालेख, दानपत्र, प्रशस्तियाँ तथा अन्य ऐतिहासिक स्रोत देखे थे[4], जिससे इस कृति की प्रामाणिकता और भी बढ़ गई है। इस गौरवशाली कृति को आठ तरंगों में विभाजित किया गया है। प्रथम छह तरंगों की श्लोक-संख्या 3045 है, जिनमें महाभारतकाल से लेकर 1103 ई. तक का इतिहास है। सातवीं तथा आठवीं तरंग में 5181 श्लोक हैं, जिनमें 1150 ई. तक का इतिहास है। यह रचना केवल राजाओं का इतिहास मात्र नहीं है, अपितु इसमें कश्मीरवासियों के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन का खुलासा भी किया गया है। इस गौरवशाली रचना के बाद और कई इतिहास-काव्य लिखे गये। जोनराज ने दूसरी राजतरंगिणी लिखी जिसमें

उसी इतिहास-सूत्र को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है, जहाँ कल्हण ने इसे छोड़ा था। कुल मिला कर इसमें 459 वर्षों का इतिहास गुम्फित किया गया है। जोनराज चूँकि सुल्तान ज़ैनुलआबिदीन के राज कवि थे, अत: इनके द्वारा लिखे गये इतिहास की प्रामाणिकता पर संशय हो सकता है। यह संशय इस बात से और भी गहराता है, क्योंकि इस रचना में ज़ैनुलआबिदीन के वर्णन पर अधिक बल दिया गया है, पर इस रचना के बारे में डॉ. रघुनाथ सिंह लिखते हैं — (जोनराज ने) "इतिहास को इतिहास के ढंग से लिखा है। उसे रीतिबद्ध अलंकार एवं रस से बोझिल महाकाव्य का रूप नहीं दिया है। उसने चरित, कथा, आख्यायिका और इतिवृत्तों का संग्रह नहीं किया है। उसने क्रमागत राजाओं और सुल्तानों के शुद्ध इतिहास लिखने का स्तुत्य प्रयास किया है।"[5] इसके बाद श्रीवर ने भी राजतरंगिणी लिखी। इस काव्य में सन् 1459 ई. से लेकर सन् 1459 ई. तक का इतिहास चार तरंगों में वर्णित है। इन चार तरंगों में सुल्तान ज़ैनुलआबिदीन, हैदरशाह, हसनशाह तथा मुहम्मदशाह के राजकाल का वर्णन है। श्रीवर चूँकि इन चारों सुल्तानों से आदर-सम्मान प्राप्त कर चुके थे, अत: इनकी इस कृति की प्रामाणिकता भी सन्देह के घेरे में आ जाती है। फतेशाह के राजकाल की घटनाओं का वर्णन 'राजावलिपताका' नामक काव्य में प्राज्यभट्ट ने किया है। यह रचना अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। एक और राजतरंगिणी भी है, जिसे शुक ने रचा है। इस रचना में फतेहशाह, मुहम्मदशाह, इब्राहीमशाह, नाज़ुकशाह और शमसुद्दीन के शासनकाल का वर्णन है। भौगोलिक ज्ञान तथा पूर्वइतिहास ज्ञान की दृष्टि से यह तरंगिणी कल्हण, जोनराज तथा श्रीवर की राजतरंगिणियों के सामने नहीं ठहरती, पर यह अपने समय के इतिहास-ग्रंथ की दृष्टि से एक प्रामाणिक रचना कही जा सकती है। ऐतिहासक महाकाव्यों में 'विक्रमांकदेचरित' एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसके प्रणेता बिल्हण हैं। इसमें राजा आहवमलूल तथा उसके पुत्र विक्रमादित्य पष्ट के चरित को उभारा गया है। इसके सर्गों की संख्या अठारह है। अन्तिम सर्ग में कवि ने अपना जीवन-परिचय दिया है। इस कृति का प्रधान रस वीर है तथा अलंकारों का प्रयोग साधन-रूप में किया गया है।

इस क्रम में 'दुर्भिक्ष्यतारोदय' नामक खण्ड काव्य एक और क़दम है। इस रचना में महाराजा रणवीर सिंह के समय के अकाल (1934) का वर्णन है। इस रचना के रचनाकार पण्डित ईश्वर कौल हैं। आज से कई दशक पहले कश्मीर से एक संस्कृत पत्रिका 'श्री' नाम से निकलती थी। इसी पत्रिका में प्रोफेसर गोविन्द राजदान की एक ऐतिहासिक लेखमाला छपी थी।

महाराजा अवन्ति वर्मा के समय में शिवस्वामी नाम के एक महाकवि हुए हैं। इन्होंने सात महाकाव्य, अनेक स्तुति-कथाएँ तथा नाटक आदि रचे हैं। इनकी कृतियों में से 'कप्फिनाभ्युदय' नामक एक महाकाव्य उपलब्ध है। इनकी शेष रचनाएँ अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं। 'कप्फिनाभ्युदय' में महात्मा बुद्ध के एक प्रमुख शिष्य महाराजा कटफिन की कथा को आधार बनाया गया है। इस महाकाव्य का वर्ण्य विषय हिन्दुओं के कर्तव्य धर्म तथा बौद्धों के संसारबंधन से मुक्ति के सिद्धान्तों का समन्वय है। कहा जाता है कि इस महाकाव्य की रचना की प्रेरणा कवि को बौद्ध आचार्य चन्द्रमित्र से मिली थी। बारहमुला के निकट उडू नामक गाँव के निवासी भट्टभूम ने 'रावणार्जुनीय' महाकाव्य की रचना की है। विद्वानों का कहना है कि इस कृति का उद्देश्य 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों का उदाहरण प्रस्तुत करना है। कार्तवीर्य के पुत्र अर्जुन का रावण के साथ युद्ध होता है, जिसमें कीर्तवीर्य सहस्रबाहु अर्जुन को विजयश्री मिली थी — यही पौराणिक आधार 'रावणार्जुनीय' का वर्ण्य विषय है। संस्कृत महाकाव्यों में विशालतम (50 सर्गों का) महाकाव्य 'हरविजय' राजानक रत्नाकर की रचना है। यह महाकाव्य स्कन्धपुराण की एक कथा पर आधृत है। इसकी रचना अलंकृत परिष्कृत शैली में की गई है। दोही अक्षरों का प्रयोग करते हुए इसके कई छन्दांश रचे गये हैं।[6] अलंकृत शैली, वर्णनशक्ति तथा पाण्डित्य आदि इस कृति को विशिष्टता प्रदान करते हैं। मंक ने 'श्रीकण्ठचरित' महाकाव्य की रचना की हैं। इस महाकाव्य का आधार भी पौराणिक, शिव का त्रिपुरासुरवध है। यद्यपि इस कृति की शैली आलंकारिक है, फिर भी रस की महत्ता को इसमें महत्व दिया गया है। इस कृति का पच्चीसवाँ सर्ग कश्मीर के सांस्कृतिक इतिहास के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्त्व का माना जाता है। श्रीवर ने 'कथाकौतुक' नाम से एक महाकाव्य की रचना की है। यह महाकाव्य फ़ारसी कवि जामी के 'युसूफ-ज़ुलेखा' की प्रेमकथा पर आधारित है, जो पन्द्रह कौतुकों में विभाजित है। इस कृति की भाषा सरल तथा इसमें प्रयुक्त उपमान सर्वप्रचलित हैं। इसमें वर्णित प्रेमगाथा में दार्शनिक भावों को भी पिरोया गया है।

बिल्हण रचित 'चौरपंचाशिका' एक सुन्दर रीति-काव्य है। इस रीति-काव्य के कश्मीरी संस्करण में पद्यों की संख्या 56 है। इसके अन्तिम पद्यों में कवि ने मिलन से अधिक विरह को ही श्रेष्ठ माना है, क्योंकि मिलन में प्रिया एक ही दिखाई पड़ती है पर विरह में सारा संसार ही प्रियामय दिखाई पड़ता है।[7] प्रवाहमयता, संगीतात्मकता तथा एन्द्रियता इस रीति-काव्य की विशेषताएँ हैं। 'दर्पदलन' क्षेमेन्द्र की रचना है। यह 596 पद्यों वाला लघुकाव्य है। इसमें अहंकार के सात कारण — कुल,

धन, ज्ञान, सौंदर्य, वीरता, दान और तप बताये गये हैं। अहंकार के विभिन्न कारणों पर प्रकाश डालते हुए उसके असार होने को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस लघुकाव्य की भाषा-शैली सरल एवं प्रभावोत्पादक है। इस काव्य में क्षेमेन्द्र द्वारा व्यक्त किये गये विचार आज के सन्दर्भ में भी उपयोगी हैं। क्षेमेन्द्र का एक और लघुकाव्य 'सेव्यसेवकोपदेश' है। इसकी पद्य संख्या 61 है। इनमें सेवक और स्वामी के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है और सेवक की दीन दशा का चित्रण किया गया है। क्षेमेन्द्र का ही एक और लघुकाव्य 'कलाविलास' है। इसका वर्ण्य विषय जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में लोगों द्वारा अपनाया गया छल-कपट और धूर्ततापूर्ण व्यवहार है। व्यंग्यात्मक शैली में रचा गया यह यथार्थवादी काव्य कवि की पैनी दृष्टि को दर्शाता है। इन्हीं का एक और लघुकाव्य 'नर्ममाला' है। यह रचना कश्मीर के ग्यारहवीं शताब्दी के भ्रष्ट अधिकारियों पर एक प्रभावी व्यंग्य है। 'देशोपदेश' भी इसी कवि का एक और लघुकाव्य है। इसमें हास्य-व्यंग्य का सहारा लेते हुए उस समय के कश्मीर की सामाजिक और राजनीतिक बुराइयों पर चोट की गई है। क्षेमेन्द्र ने वेश्याओं के विषय में भी एक लघु काव्य रचा है, जिसका नाम 'समयमातृका' है। इसी तरह का एक और लघुकाव्य 'कुट्टनीमत' है। इसे दामोदर गुप्त ने रचा है। इसमें वेश्याओं की ज़िन्दगी को प्रामाणिक रूप से चित्रित किया गया है। युवक पथभ्रष्ट न हों, इस उद्देश्य को लेकर जल्हण ने एक लघुकाव्य की रचना की है, जिसका नाम 'मुग्धोपदेश' है। इस रचना में 66 पद्य हैं।

क्षेमेन्द्र की कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं, जिनका आधार रामायण, महाभारत, वृहत्कथा, बौद्धों का अवदान साहित्य तथा पुराण कथाएँ हैं। इस प्रकार की रचनाएँ क्रमशः रामायण मंजरी, भारत मंजरी, वृहत्कथा मंजरी, बोधिसत्वावदानकल्पलता तथा दशावतारचरित हैं। 'रामायण मंजरी' में भी रामायण की तरह ही सात काण्ड हैं, पर कवि ने अपनी सुविधानुसार कई घटनाक्रम रामायण के अनुरूप नहीं रखे हैं। 'भारत मंजरी' भी महाभारत की तरह ही अठारह पर्वों में विभाजित है और इसमें भी कई घटनाएँ आगे-पीछे कर दी गई हैं। 'बृहत्कथा मंजरी' गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' का संक्षिप्त रूपान्तर है। भगवान बुद्ध के पूर्वजन्मों तथा बुद्ध-रूप में अवतरित होने की कथा को 'बोधिसत्वावदानकल्पतला' का वर्ण्य विषय बनाया गया है। कहा जाता है कि इस रचना का अन्तिम भाग क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने रचा है। इस रचना का अनुवाद तिब्बती भाषा में भी हुआ है। यह अनुवाद प्रसिद्ध विद्वान सोन्तोन लोचावे ने किया है। पुराणों से संकलित की गई कथाओं को आधार बना कर तथा अपने ढंग से प्रस्तुत कर कवि ने 'दशावतारचरित' की रचना की है। एक भक्तिपरक रचना होते हुए भी इसमें तत्कालीन समाज की विषमताओं को उभारा गया है। कवि ने शिद्दत के साथ महसूस किया है कि एक-जैसे होते हुए भी मानव और मानव में विषमता क्यों हैं।[8]

कश्मीर के संस्कृत कवि मुक्तक लिखने में भी सिद्धहस्त थे। कवि भल्लट ने अन्योक्तियों द्वारा अपने मुक्तक काव्य 'भल्लटशतक' में उस समय के उच्च वर्ग के अयोग्य व्यक्तियों पर फब्तियाँ कसी हैं। 'अन्योक्तिमुक्तालता' शम्भु कवि का मुक्तक काव्य है। इसमें बड़ी रोचक और मार्मिक अन्योक्तियाँ हैं। शम्भु कवि की ही एक और रचना है 'राजेन्द्रकर्णपूर'। इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता महाराज हर्षदेव की प्रशस्ति को विषय बनाया है। इस रचना की पद्यसंख्या 75 है, जिनमें महाराज हर्षदेव के शारीरिक सौंदर्य तथा प्रजापालन आदि का वर्णन किया गया है। कवि शिल्हण ने भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' की शैली में 'शान्तिशतक' की रचना की है। यह रचना कवि ने चार भागों या परिच्छेदों में विभाजित की है। ये चार परिच्छेद हैं — परितापोशम, विवेकोदय, कर्तव्योपदेश और ब्रह्मप्राप्ति। इसकी भाषा सरल और प्रभावोत्पादक है। 'चतुर्वगसंग्रह' नाम से कवि बिल्हण ने भी मुक्तक लिखे हैं। ये मुक्तक नीतिपरक हैं। इसके चार परिच्छेदों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष विषयक पद्य हैं। 'चारु चर्चा' सौ मुक्तकों का संग्रह है, जिनके विषय शिष्टाचार, व्यवहार तथा धर्माचरण हैं।

स्तुतिपरक काव्यों में जगद्धर भट्ट की 'स्तुतिकुमांजलि' का अपना एक विशिष्ट स्थान है। इस रचना में 38 स्तोत्र हैं जो भक्ति रस से भरे पड़े हैं। भक्ति के अतिरिक्त यह कृति कश्मीर शैवदर्शन का पर्याप्त ज्ञान भी कराती है। 'ईश्वरशतक' कवि अवतार का स्तुतिकाव्य है। इसे अलंकृत भाषा में रचा गया है। भगवान शिव की स्तुति में लिखा गया 'दीनाक्रन्दनस्तोत्र' कवि लोष्ठक का रचा माना जाता है। मंकक ने इस कवि को छह भाषाओं का ज्ञाता कवि माना है। आचार्य उत्पलदेव रचित 'शिवस्तोत्रावली' भावपूर्ण स्तुति पद्यों का संकलन है जिन्हें भगवान शंकर की अर्चना में रचा गया है। इस रचना की विशेषता यह है, कि इसमें गूढ़ दार्शनिक तथ्यों को बहुत ही सरल शब्दों का प्रयोग करके समझाया गया है। इसमें भक्ति का महत्व ज्ञान से अधिक बता कर भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। भगवती दुर्गा की स्तुति में कवि आनन्दवर्धन ने 'देवीशतक' नामक स्तुति काव्य लिखा है। इस काव्य में 104 पद्य हैं। कहा जाता है कि इस रचना के एक पद्य में संस्कृत, मराठी, पैशाची, मागधी, शौरसेनी और अपभ्रंश का प्रयोग किया गया है।[9] बौध

कवि सर्वज्ञमित्र द्वारा रचित स्तोत्रकाव्य 'स्रग्धरास्तोत्र' बौद्धदेवी तारा की स्तुति में लिखा गया है। इसका विषय भक्ति है, जिसे भावुकतापूर्ण शैली में रचा गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र को कश्मीरी आचार्यों की जो देन है उसे संसार अमूल्य मानता है। भारतीय काव्यशास्त्र के जो छह प्रमुख सिद्धान्त — अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचत्य हैं, इन सभी का प्रवर्तन कश्मीर के आचार्यों ने ही किया। ये आचार्य थे — भामह, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र। जिन आचार्यों ने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों पर टीकाएँ लिखीं, वे हैं — अभिनवगुप्त, उद्भट्ट, लोल्लट, शंकुक, महतौत, तिलक, प्रतिहारेन्दुराज, आनन्द, रत्नकण्ठ तथा जयरथ आदि। कई ऐसे आचार्य भी हैं जिन्होंने अपने से पहले के आचार्यों के चिन्तन को अपनी कृतियों में संकलित कर तथा उसमें परिवर्तन-परिवर्धन कर प्रस्तुत किया। ऐसे आचार्यों में मम्मट, रुद्रट, रुय्यक तथा शोभाकरमित्र हैं। भरत के पश्चात भामह को ही युग के सर्वप्रथम काव्याचार्य के रूप में प्रतिष्ठा मिली है। भरत को नाट्यशास्त्र का प्रथम आचार्य और भामह को काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य माना जाता है। इनके ग्रंथ का नाम 'काव्यालंकार' है। इस रचना में इन्होंने काव्यशास्त्र के विषयों का वैज्ञानिक विवेचन किया है और अलंकार तथा रस का सम्बन्ध श्रव्य काव्य के साथ स्थापित किया है। भामह के अनुसार काव्य का प्रयोजन धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष तथा कलाओं में चतुरता, यश और कीर्ति प्राप्त करना है।[10] वामन ने अपनी कृति 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में काव्य के समस्त अंगों पर सामान्य रूप से प्रकाश डाला है। इन्होंने काव्य की आत्मा रीति को माना है। इसी कारण इन्हें रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है। इनकी प्रसिद्धि का कारण भी यही है। भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य आनन्दवर्धन को युगान्तरकारी माना जाता है। इनके द्वारा जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, उसे ध्वनि सिद्धान्त कहते हैं। इनका रचा प्रमुख ग्रंथ ध्वन्यालोक है, जिसे भारतीय काव्यशास्त्र के चिन्तन का चर्मोत्कर्ष माना जाता है। इसके अनुसार ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना गया है। ध्वनि कीं परिभाषा आनन्दवर्धन इस प्रकार देते हैं — जहाँ शब्द और अर्थ अपने-अपने अस्तित्व को गौण रख कर किसी विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं, वह ध्वनि है।[11] क्या यही आज के कवियों का 'शब्देतर अर्थ' नहीं ? आचार्य कुन्तक ने अपने एकमात्र ग्रंथ 'वक्रोक्तिजीवित' में वक्रोक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। अनुमानवाद की स्थापना करने वाले आचार्य महिमभट्ट हैं। इन्होंने तीन शब्द-शक्तियों — अभिधा, लक्षणा, व्यंजना में से तीसरी शब्दशक्ति यानी व्यंजना के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। इनके अनुसार व्यंग्यार्थबोध तथा रस की प्रतीति अनुमान से ही हो जाती है। आचार्य क्षेमेन्द्र के काव्यशास्त्र सम्बन्धी दो ग्रंथ हैं — 'औचित्यविचारचर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण'। यद्यपि इनसे पहले के आचार्यों ने औचित्य की चर्चा की है परन्तु औचित्य को सम्प्रदाय की कोटि में लाने का श्रेय क्षेमेन्द्र को ही है। औचित्य 'काव्य का भी जीवित है और काव्य की आत्मा का भी जीवित है।' आचार्य मम्मट का प्रसिद्धतम ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' है। इस ग्रंथ पर 75 टीकाएँ लिखी गई हैं, इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि यह ग्रंथ कितना आवश्यक और लोकप्रिय है। शताब्दियों से साहित्यशास्त्र के अनेकानेक अंगों का विकास हो रहा था। उस विकास का विचार है एवं उसका सार इसमें संग्रहीत हैं।[12]

कश्मीर के प्रसिद्ध नाटककारों में चन्द्रक, श्यामलिक, जयन्त भट्ट तथा बिल्हण उल्लेखनीय हैं। चन्द्रक का कोई नाटक अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है, पर कल्हण ने 'राजतरंगिणी' की द्वितीय तरंग के सोलहवें पद्य में तथा अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' में इनके नाटककार होने का उल्लेख किया है। श्यामलिक की रचना 'पादताडिक' है, जो एक भाण है। इसका नायक विट आकाशभाषित प्रश्नों का उत्तर देते हुए अकेला ही सारी कथा कहता है। इस रचना का उद्देश्य समाज के जाने-माने लोगों की कामुकता पर प्रहार करना, तत्कालीन समाज की बुराइयों पर फब्तियाँ कसना तथा साथ ही दर्शकों का मनोरंजन करना भी है। 'आगमाडम्बर' नामक नाटक के रचयिता जयन्त हैं। यह एक दार्शनिक विषय प्रधान नाटक है। इसमें कश्मीर की तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराओं का रोचक ढंग से वर्णन किया गया है। बिल्हण के रचे नाटक का नाम 'कर्णसुन्दरी' है। कर्णसुन्दरी एक नाटिका है, जिसकी कथा नाटककार की कल्पना का परिणाम है। नाटिका का प्रधान रस शृंगार है, पर कहीं-कहीं इसमें हास्य का पुट भी है।

कश्मीर का शैव दर्शन या त्रिकदर्शन संसार-भर में प्रसिद्ध है। इस दर्शन से सम्बन्धित जिन-जिन ग्रंथों का प्रणयन समय-समय पर किया गया, उनके प्रति संसार-भर के विद्वानों एवं दार्शनिकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इस दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धान्त हैं—यह संसार असत्य न होकर सत्य है। आत्मा चैतन्य है। इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति का सम्मिश्रण ही चेतन है। विश्व का स्रोत परम शिव है। विश्व प्रकाश और विमर्श दो रूपों में विद्यमान हैं। ये दो रूप अविच्छेद्य (एक दूसरे से अलग न होने वाले) हैं। विमर्श शक्तिरूप तथा प्रकाश शिवरूप हैं। विश्व के जनक एवं शक्तिमान स्वामी महेश्वर या

परम शिव हैं। इस संसार में उत्पन्न होने वाले सब लोग महेश्वर की सन्तान हैं। परम शिव तक पहुँचने के लिए संसार का त्याग करना आवश्यक नहीं, वहाँ गृहस्थ में रह कर पहुँचा जा सकता है। शैवमत सम्बन्धी ग्रंथों की रचना करने वाले प्रमुख ग्रंथकर एवं उनके ग्रंथों के नाम हैं — वसुगुप्त का शिवसूत्र; भट्ट कल्लट का स्पन्दसर्वस्व; अभिनवगुप्त के परमार्थ सार, तंत्रालोक, तंत्रसार तथा शिवदृष्टिलोचन; सोमानन्द का शिवदृष्टि; उत्पल के स्पन्द प्रदीपिका तथा ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका; क्षेमराज के स्पन्द निर्णय, प्रतिभिज्ञाहृदय इत्यादि।

विश्व कथा-साहित्य को कश्मीर की एक अमूल्य देन है सोमदेव की कृति कथासरितसागर। 'कथासरितसागर' गुणाढ्य की पैशाची भाषा में लिखी 'बृहत्कथा' का संस्कृत में किया गया रूपान्तर है। रूपान्तर करते समय सोमदेव ने कथाओं को अपने समय की मान्यताओं के अनुरूप ढाला है। 'कथासरितसागर' की श्लोक-संख्या बाईस हज़ार है, जो 18 लम्बको[13] में विभाजित है। इस रचना की कथाओं में विविधता, रोचकता और सांस्कृतिक सामग्री की विपुलता है। डॉ. वेदकुमारी के अनुसार "सांस्कृतिक दृष्टि से कथासरितसागर एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। गुप्तकाल के पूर्व काल से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक के भारतीय समाज का यथार्थ चित्रण इसमें मिलता है।"

व्याकरणशास्त्र को भी कश्मीरी वैयाकरणों ने अपनी लेखनी से समृद्ध किया है। पाणिनि-सूत्रों तथा कान्त्यन की वर्तिका पर टीकाएँ लिखने वाले पतंजलि हैं। कहा जाता है कि ये कश्मीर के एक गाँव गुदर में निवास करते थे। 'काशिकावृत्ति' जयादित्य और वामन ने लिखी है, जिसे पाणिनि पर लिखे गये भाष्यों में सबसे अच्छा माना जाता है। पतंजलि के महाभाष्य पर प्रदीप नामक भाष्य लिखने वाले कैय्यट हैं। पाणिनि के धातुपाठ-भाष्य लिखने वाले क्षीरस्वामिन् थे। बौद्धकाल का प्रसिद्ध व्याकरण 'चान्द्रव्याकरण' लिखने वाले चन्द्रगोमिक हैं। इसी प्रकार जगद्धरभट्ट ने एक व्याकरण 'बाल-बोधिनी' नाम से लिखा और चिकभट्ट ने 'लघुवृत्ति' नाम से एक और व्याकरण लिख डाला। आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध एवं प्रामाणिक ग्रंथ 'चरक-संहिता' के रचनाकार चरक भी कश्मीरी थे। कामशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ 'रतिरहस्य' के लेखक भी यहीं के निवासी थे।

कश्मीर में लिखे गये संस्कृत साहित्य का बहुत बड़ा हिस्सा खो चुका है। न जाने कितने महान एवं अपूर्व अमूल्य ग्रंथ सुल्तान सिकन्दर बुतशिकन आदि ने जलवा कर तथा डल झील में डुबवा कर नष्ट कर दिये होंगे। कितने ही ग्रंथ अजायबघरों तथा अनेक पुस्तकालयों में पाण्डुलिपियों के रूप में प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहे होंगे। खैर, अभी भी कश्मीरी पण्डितों ने संस्कृत का प्रकाशवान दीप प्रज्वलित कर रखा है। अभी भी यहाँ प्रोफेसर बलजिन्नाथ पण्डित (जिन्होंने शैव मत पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं) तथा मोतीलाल ज़ाड़ू 'पुष्कर' (जिन्होंने अलामा इक़बाल की कविता को उन्हीं के छन्दों में 'इक़बाल काव्य दर्शनम्' नाम से अनूदित किया है) जैसे अनेक साहित्यकार साहित्य-सेवा में लगे है।

कुछ सूत्रों को आधार मान कर कई विद्वान कश्मीरी साहित्य का आरम्भ नौंवी-दसवीं शती के आसपास हुआ मानते हैं। इनके अनुसार एक तांत्रिक सम्प्रदाय थुम्म-सूत्रों की व्याख्या-वर्तिका में कश्मीरी शब्दों का प्रयोग बीच-बीच में किया गया है, जिन्हें कश्मीरी भाषा का पहला रूप माना जा सकता है। इसी का विकास आगे चल कर शतिकंठ के 'महानय प्रकाश' में हुआ है।[14]

भाषा-विकास की बात एक ओर छोड़ कर यदि हम विशुद्ध कश्मीरी साहित्य के आरम्भ की बात करें तो वह आज तक मिले प्रमाणों के आधार पर लल्लेश्वरी के 'वाखों'[15] से ही माना जाता है। कश्मीरी की इस महान एवं आदि कवयित्री के जीवन के बारे में बस इतना ही कहा जाता है कि यह एक ब्राह्मण परिवार में जन्मी और पांपोर (पद्मपुर) के एक ब्राह्मण परिवार में बचपन में ही ब्याही गई। इसका वैवाहिक जीवन तनिक भी सुखद नहीं रहा। सास इसे बहुत सताती थी, यहाँ तक कि लल्ला को ससुराल में भरपेट खाना भी नहीं मिलता था। पति ऐसा मिला था जो वक्त-बेवक्त झगड़ा ही करता रहता। इस रोज़-रोज़ के कष्ट एवं झगड़े को लल्ला का भावुक एवं संवेदनशील मन न सह सका, अतः गृहस्थ का त्याग कर वैराग्य का रास्ता अपनाया। सिद्ध श्रीकण्ठ से दीक्षा ली। श्रीकण्ठ महान शैवाचार्य वसुगुप्त की शिष्य-परम्परा में होने के साथ-साथ स्वयं भी अपने समय के माने हुए विद्वान थे। स्पष्ट है कि श्रीकण्ठ ने लल्लेश्वरी को शैवदर्शन के अमृत का स्वाद चखाकर, एक नई आलोक किरण तथा आध्यात्मिक मस्ती से साक्षात्कार कराया होगा। इसी स्वाद, आलोक और मस्ती ने लल्ला के संवेदनात्मक हृदय के तारों को छेड़ उनकी वाणी को शब्द दिये होंगे। शायद लल्ला का निम्नलिखित वाक्य इसी ओर इंगित करता है :

गवरन वोॅनुम कुनुय वचुन, / न्यबुॅरुॅ दोपनम अन्द्रॅय अचुन।
सुयगव ललिम्य वाख तुॅ वचुन, / तवैम्य ह्यो तुम नगै नचुन।।

अर्थात्, 'गुरु ने मुझे यही एक बात बताई कि तुम बाहर से भीतर प्रवेश कर लो, यही वचन मेरे लिए आदेश बन गया और मैं मस्त हो निर्वसन घूमने लगी।' यहाँ हज़ार बातों की एक ही बात 'बाहर से भीतर' आने की कही गई है। 'बाहर

से भीतर आने' का अभिप्राय अंतर्मुखी होना, लोगों की बातों पर ध्यान न देकर अपनी आत्मा की बात सुनना तथा बाह्य दृश्यमान जगत को देखने के अनन्तर मनोजगत का अवलोकन करना इत्यादि हो सकता है। जो भी हो, लल्ला ने गुरु-वचन को अन्तिम आदेश मान कर जग वालों की परवाह न करते हुए आध्यात्मिक 'मस्ती का आनन्द लूटना आरम्भ कर दिया। संक्षेप में कहा जाये तो लल्लेश्वरी, जिसे कश्मीरी आदर से 'ललद्यद' कहते हैं, की कविता वास्तव में कविता है : जो शब्देतर है, जिसमें दर्शन, रहस्य, विरोध, विद्रोह और न जाने क्या-क्या है। आज तक इस महान संत-कवयित्री की कविता पर देशी-विदेशी लेखकों ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं और यह क्रम चलता ही रहेगा, क्योंकि लल्ला की कविता संसार की सर्वश्रेष्ठ कविता में अपना विशेष स्थान रखती है। हर चिन्तक की दृष्टि के लिए लल्ला की कविता में बहुत कुछ है। लल्लेश्वरी के 'वाखो' का संग्रह अनेक देशी-विदेशी विद्वानों ने किया है। इनमें से 'दि वॅर्ड ऑफ लल्ला', सर रिचर्ड टेम्पुल; 'लल्ला वाग्यानि', सर जॉर्ज गियर्सन; 'लाइफ एण्ड सेइग्स ऑफ लल्ला', पण्डित आनन्द कौल बाम्ज़ई; 'दि फ्लेम ऑफ लव', टी. एल. वासवानी; 'ललवाक्यानि' (संस्कृत अनुवाद) राजानक भास्कराचार्य; 'ललद्यद' (उर्दू अनुवाद); पण्डित नन्दलाल कौल 'तालिब' तथा 'लल-वाख' सम्पादक पण्डित सर्वानन्द चरागी और पं. अफताब कौल वांचू आदि उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों के अतिरिक्त कई संस्थाओं ने भी लल्लेश्वरी-साहित्य पर शोध तथा उसकी समीक्षा की है। इस दिशा में कश्मीरी पण्डित सभा, दिल्ली, जिन्होंने अपने मुखपत्र 'कॉशुर समाचार' का लल्लेश्वरी विशेषांक निकाला तथा जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी का प्रकाशन 'ललद्यद', लेखक प्रोफेसर जे. एल. कौल सराहनीय प्रयास हैं।

लल्लेश्वरी के पश्चात कश्मीरी कविता के उत्कर्ष में जो व्यक्तित्व सम्मिलित हुआ, उसका नाम है शेख नूरुद्दीन वली (1373-1438 ई.)। शेख नूरुद्दीन को जनता नुन्द ऋषि के नाम से भी जानते हैं। शेख साहब मूलतः एक हिन्दू वंशज हैं। ये एक क्षत्रिय राजवंश से सम्बन्धित थे जो कष्टवार में रहा करता था। इनके दादा उग्रसेन राज में कुछ गड़बड़ी होने के कारण अपने पूर्वजों का स्थान त्याग कर कश्मीर भाग आये। उग्रसेन के बेटे, अर्थात नुन्द ऋषि के पिता, इस्लाम धर्म में दीक्षित किये गये। इसके पश्चात ये कश्मीर के एक गाँव कयमूह में रहने लगे। नुन्द ऋषि की माँ, स्वोदॅरमोज, कविता किया करती थी। माँ चाहती थी कि उसका बेटा जुलाहे का काम सीखे। वह सीखने भी गया पर मन नहीं लगा और कृषि-कर्म को अपनी आजीविका का आधार बना लिया। बाद में वे ऋषि-परम्परा में सम्मिलित हुए। ये मुसलमान ऋषि घोर तपस्या, ब्रह्मचर्य, घर-गृहस्थी का त्याग, विशुद्ध शाकाहारी भोजन, निर्जन-वास, नामजप, ध्यान एवं इन्द्रिय-संयम आदि पर विश्वास करते थे। ये ऋषि प्रायः अनपढ़ थे तथा कविता किया करते थे। इनके विचारों पर वेदान्त, शैव तथा बौद्ध दर्शनों का स्पष्ट प्रभाव है। नुन्द ऋषि इन ऋषियों के प्रतिनिधि ऋषि हैं। इनके द्वारा रचे पदों को 'श्रुख' कहते हैं। 'श्रुख' श्लोक का ही बिगड़ा रूप है। नुन्द ऋषि की वाणी में आध्यात्मिक रहस्यवाद के अतिरिक्त मुल्लाहों आदि पर व्यंग्य एवं मृत्यु-संत्रास के भी दर्शन होते हैं। मृत्यु-संत्रास का एक उदाहरण देखिए —

सरफस चलिज़े अस्तस खंडस / सुहस चॅलिज़े क्रुहसताम
दीनदास्स चलिज़े वहरस खंडस / मोतस चॅलिज़े नुॅ अॅछमुहस ताम।

अर्थात्, साँप से हाथ-भर की दूरी तक भागा जा सकता है, शेर से कोस-भर की दूरी तक, धर्मांध से साल-भर तक बचा जा सकता है पर मौत से निमिष-भर के लिए भी बचा नहीं जा सकता।

नुन्द ऋषि की भाषा में संस्कृत-मूल के शब्दों की अधिकता है, पर इस्लाम के आगमन का असर, यानी फारसी का असर भी कहीं-कहीं देखा जा सकता है।

ललद्यद तथा नुन्द ऋषि की रचनाओं के पश्चात जिस महत्त्वपूर्ण रचना का पता चला है, वह है बाणासुर कथा। 'बाणासुर कथा' के रचनाकार हैं अवतार भट्ट या भट्टावार। अवतार भट्ट के जीवन के विषय में आंतरिक और बाहिर्साक्ष्य के आधार पर जो तथ्य प्राप्त होते हैं वे काफी विरल हैं। कवि का जीवन काल ज़ैनउलआबिदीन बड़शाह के समय (1420-1470 ई.) में अवस्थित था। उस काल के विख्यात इतिहासकार और राजसभा के मान्य पण्डित श्रीवर ने अपने इतिहास ग्रंथ[16] ज़ैन राजतरंगिणी में संक्षेप में कवि का उल्लेख किया है, जिससे पता चलता है कि अवतार भट्ट बड़शाहकालीन प्रमुखतम साहित्यिक प्रतिभाओं में गिने जाते थे तथा संस्कृत और फारसी भाषा के अच्छे विद्वान थे।[17] इनकी रचना 'बाणासुर कथा' को कश्मीरी काव्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण और उत्कृष्ट काव्य माना जाता है। इस रचना की कथा का आधार हरिवंश पुराण है। कवि ने इस रचना की कथा के साथ कई अच्छी गीतियों का समावेश भी किया है।

कश्मीरी काव्य को नया मिज़ाज, नया स्वर और नई भंगिमा देने वाली एक मुस्लिम महिला हब्बा खातून है। हब्बा खातून के जीवन के बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। जनश्रुतियों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस कवयित्री का वास्तविक नाम 'ज़ून' था। उसका पहला विवाह चंद्रहार

नामक गाँव के एक किसान अज़ीज़ लोन के साथ हुआ था। अज़ीज़ लोन और उसके परिवार वालों ने हब्बा को अत्यन्त कष्ट दिये। इन कष्टों एवं यातनाओं ने ही सम्भवत: इसे कवयित्री बना दिया और ससुराल में भोगी यातनाओं ने उसकी कविता में स्वर पाया। एक दिन हब्बा केसर के खेत में गा रही थी। चक बादशाह यूसुफशाह वहाँ से गुज़रा हब्बा के मदमाते अतुलनीय यौवन तथा उसकी सुरीली-मधुर आवाज़ पर मोहित हो गया। आखिर हब्बा खातून और यूसुफशाह का निकाह हुआ। 1582 में अकबर ने कश्मीर पर अधिकार किया और यूसुफशाह को बन्दी बना कर कश्मीर से बाहर भेज दिया। हब्बा खातून ने भागकर जान बचाई और पाँदछवख नामक स्थान (जो श्रीनगर के निकट है) के करीब अपने जीवन के अन्तिम दिन बिताये। पचपन साल की आयु में उसकी मृत्यु हो गई।

हब्बा के गीत बड़े मार्मिक हैं। इन गीतों में प्रेम, व्यथा तथा तड़प की अभिव्यक्ति हुई है। इनके गीत लिखित रूप में नहीं, अपितु मौखिक परम्परा द्वारा हम तक पहुँचे हैं। इन गीतों में लोगों ने कितने अपने शब्द या पंक्तियाँ जोड़ी हैं, कहा नहीं जा सकता। कश्मीरी के एक आधुनिक कवि श्री अमीन क़ामिल ने इनके गीतों का संकलन एवं सम्पादन किया है जो इस दिशा में एक अच्छा कदम हैं, पर इसमें भी पाठानुसंधान को नज़रअन्दाज कर दिया गया है। हब्बा के गीतों का जो पाठ आजकल उपलब्ध है, उसमें कई अन्य कवियों की रचनाएँ एवं लोकगीत गड्ड़मड्ड हो गये हैं। पतिवियोगजन्य व्यथा को हब्बा यों शब्द देती हैं—

यारॅ दादे तारिगयिसो / बरबुकुॅ छुम आमुॅतुय
हब्बुॅ खोतूनि व्वोॅन इशारा / दिल हुशारा मालिन्यो हो!

अर्थात्, मैं अपने पिया के लिए बहुत ही व्याकुल हो रही हूँ, मेरा हृदय फटने को हो रहा है। हब्बा खातून ने अपने दर्द की ओर संकेत कर दिया, मेरे मैके वालो इसे समझो!

हब्बा खातून के पश्चात कश्मीरी काव्य का एक महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय नाम है अरत्रिमाल। अरत्रिमाल कश्मीर के पलहालन नामक गाँव के एक साधारण कश्मीरी पण्डित परिवार में सन् 1338 ई. में जन्मी। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार उसका विवाह बाल्यकाल में ही रैणावारी, श्रीनगर के पण्डित मुंशी भवानीदास काचरू के साथ हुआ था। भवानीदास अफ़गानों के एक दरबारी थे और फ़ारसी के एक अच्छे कवि थे। विवाह के कई साल पश्चात ही भवानीदास ने अरत्रिमाल को छोड़ दिया, क्योंकि उसे अरत्रिमाल के भोले सौंदर्य में कुछ भी आकर्षक न दिखा। अरत्रिमाल ने अपने आपको दरबारी रंग में भी रँगा, पर कठोर हृदय पठान-दरबारी को फिर भी अपनी ओर आकृष्ट न कर सकी। हार कर अपने माता-पिता के पास गई और वहीं सन् 1378 ई. में उसका देहान्त हो गया। पति द्वारा छोड़ दिया जाना एक कश्मीरी पण्डित महिला के लिए वज्राघात से भी अधिक होता है। इसी आघात ने अरत्रिमाल के अन्दर छिपे कवि को मुखरित किया। वह कविता रचने लगी। इस कविता ने प्रेम की पीर, प्रियतम के सामीप्य की कामना आदि व्यक्त करने वाले हृदयस्पर्शी गीतों का रूप धारण कर लिया। इन गीतों ने प्रत्येक कश्मीरी के मन पर गहरा प्रभाव डाला है। एक गीत की कुछ पंक्तियाँ हैं—

म्ये शोकुॅ यारुसुॅन्दि बॅर्य मसप्यालुॅ तुॅ / आलव दीतो से
वसुॅवुनि मर्गे तुॅ खसुॅवुनिबालतुॅ / ऑही नीतो से""।

अर्थात्, मैंने अपने प्रिय के लिए मधु के प्याले भरे हैं, अरी सखियो, कोई तो उन्हें बुलाओ। चाहे वे मैदानों के पार हों या शैलतराई के आँचल में। उन तक मेरी करुण पुकार पहुँचे। अरी, उन तक मेरी प्रेम-सनी मंगलकामना तो पहुँचा दो!

1625 में श्रीनगर में एक और कवयित्री जन्मी थी। नाम था रूपभवानी। इनका विवाह हुआ तो ससुराल में इन्हें भी काफी कष्ट भोगने पड़े। कहा जाता है कि भवानी बचपन से ही वैरागिनी के-से विचारों वाली थी। ससुराल वालों के व्यवहार ने इसकी इस भावना को और भी तीव्र कर दिया और यह ससुराल का त्याग कर तपस्या के लिए चल दी। वस्तुॅवन की तलहटी, चश्मासाहिबी, मनिगाम तथा वासुकुरा नामक स्थानों पर वर्षों तपस्या कर मैके लौट आई। इन्होंने 'वाख' छन्द में अपने भावों को व्यक्त किया। इनके वाखों में आध्यात्मिक रहस्यवाद की गूँज है। इन्होंने संस्कृत, फारसी तथा हिन्दी में भी कुछ पद्य रचे हैं। इनकी कविता का एक संग्रह नागरी लिपि में छपा है। इन्हें अलकेश्वरी के नाम से भी जाना जाता है। इनके वाखों में शैव, वेदान्त तथा अन्य हिन्दू दर्शनों का प्रभाव स्पष्ट दीखता है। इनकी भाषा तत्कालीन कश्मीरी न होकर प्राचीन कश्मीरी है। आत्मा-परमात्मा का अभेद प्रकट करते हुए रूपभवानी कहती हैं —

यिवान पानुॅ तुॅ ज़्यवान पानुॅ / रिवान पानुॅ तुॅ निवान टुॅख ।
नाना प्रकार गिन्दान पानुॅ / रिन्दान पानुॅ तु ह्यवान पथ ।।

अर्थात्, वही (परमात्मा) रूप धर जन्मता है, वही संसार त्याग कर विलाप करता है। इस संसार में आकर वही तरह-तरह के खेल खेलता है और वही प्रफुल्लित होकर इस जगत को अपने में समा लेता है।

कश्मीर में इस्लाम का प्रभाव कश्मीरी भाषा और साहित्य पर भी पड़ना अनिवार्य था। मुग़लों और अफ़गानों के दौर में

फ़ारसी शासन की भाषा थी, अतः लोगों ने इसे सीखा, इसके साहित्य का अध्ययन किया, जिसके परिणामस्वरूप लोगों की रुचि में परिवर्तन आया। हब्बा खातून और अरनिमाल द्वारा पोषित प्रेम-गीतधारा का प्रवाह अवरुद्ध हो गया। इसकी जगह अब ग़ज़ल, नात, मर्सिया तथा मसनवी लिखी जाने लगीं। मसनवियाँ इतनी लिखी जाने लगीं कि इनका सैलाब ही आ गया। महमूद गामी (1765-1855) ने नौ मसनविययाँ लिखीं, जिनके नाम हैं—यूसुफ-जुलेखा, लैला-मजनूँ, शीरी-खुसरो, हारूरशीद, महमूद गज़नवी, शेखसना, शेख़ मंसूर, पहॅल्यनामुँ और हिक़ायत। इनमें से 'यूसुफ-जुलेखा' तथा 'शेखसना' नामक मसनवियाँ अच्छी मानी जाती हैं। मक़बूल शाह ग्रालवारी की मसनवी 'गुलरेज़' भी मसनवी साहित्य की एक अच्छी कृति है। सैफुद्दीन तारबली ने 'सहरेहिलाल', महीउद्दीन मिस्कीन ने 'हीर-राँझा', 'सोहिनी-महिवाल' तथा 'ज़ेबानिगार', अज़ीज उल्लाह हकानी ने 'जौहरे-इश्क', 'किस्सा बेनज़ीर बदरमुनीर', 'मुमताज़ बेनज़ीर', 'गुलदस्ता-ए-बेनज़ीर' तथा 'चन्दरबदन' आदि लिखीं। इन मसनवियों की कथाओं का आधार कोई न कोई प्रेम कहानी है, अतः इन्हें इश्क़िया मसनवियाँ कहा जाता है। इसी प्रकार रज़मिया (युद्ध सम्बन्धी) मसनवियाँ भी लिखी गईं। इस प्रकार की मसनवियों में लक्ष्मण कौल 'बुलबुल' द्वारा रचित 'सामनामा', वहाब परे द्वारा अनूदित फिरदौसी का 'शाहनामा', अमीरशाह क्रीरी का 'सामनामा' तथा 'खावरनामा' आदि उल्लेख करने योग्य हैं।

कश्मीरी में ग़ज़ल लिखने की शुरुआत महमूद गामी ने की पर इसे चोटी पर पहुँचाया रसूलमीर ने। इस कवि का जन्म डुरू शाहाबाद नामक गाँव में हुआ था। जनश्रुति है कि गामी एक हिन्दू लड़की के प्रति आकृष्ट था, जिसका नाम क्वंग था। अपने अनेक गीतों और ग़ज़लों में कवि ने इसके नाम का उल्लेख किया है। गामी एक सशक्त कवि था, अतः उसके प्रभाव में अनेक समकालीन एवं परवर्ती कवि आ गये थे।

मानव जब अत्यन्त संकटों एवं कष्टों से घिर जाता है तो त्राण के लिए प्रभु की शरण में जाना ही उसे श्रेयस्कर लगता है। मुस्लिम शासकों के अत्याचारों से जब हिन्दू आतंकित और आक्रान्त हो उठे तो स्वाभाविक था कि उनका भयभीत मानस प्रभु की शरण में जाता। इसी मानसिकता एवं देशव्यापी भक्ति-लहर ने कश्मीरी काव्य पर भी गहरा प्रभाव डाला। इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप उन्नीसवी शताब्दी के मध्य में कश्मीरी भक्ति-साहित्य का उत्थान हुआ। हालाँकि इसके बीज पहले से ही इसमें विद्यमान थे। कश्मीरी भक्त कवियों की यह विशिष्टता रही है कि वे निर्गुण-सगुण तथा विष्णु के विविध अवतारों में कोई भेद नहीं करते और न ही किसी सम्प्रदाय विशेष का बन्धन ही स्वीकार करते हैं। इन कवियों द्वारा रचित काव्य को 'लीला-काव्य' की संज्ञा दी गई है।

रामकथा को अपना विषय बना कर अनेक कवियों ने कश्मीरी रामायण लिखीं। इन रामायणों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं : प्रकाशराम कुर्यगामी कृत 'प्रकाशरामायण', शंकर कृत 'शंकररामायण', आनन्दराम राज़दान कृत 'आनन्दरामायण', विष्णु कौल कृत 'विष्णुप्रतापरामायण', नीलकण्ठ शर्मा कृत 'शर्मारामायण', ताराचन्द कृत 'ताराचन्दरामायण' तथा अमरनाथ 'अमर' कृत 'अमररामायण'। इन रामायणों में से 'प्रकाशरामायण' तथा 'शर्मारामायण' बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। 'प्रकाशरामायण' के रचनाकार पण्डित प्रकाश राम हैं। इनका जन्म कुर्यगाम नामक गाँव में हुआ था। इनका जन्म कब हुआ, यह मालूम नहीं। अनुमान के आधार पर कहा जाता है कि ये सम्भवतः अधिक पढ़े-लिखे न थे, किन्तु फ़ारसी की शिक्षा इन्होंने अवश्य पाई थी। यह भी कहा जाता है कि इन्होंने अपने गाँव की पटवारीगिरी भी की थी। इनकी सुविख्यात कृति 'प्रकाशरामायण' फ़ारसी तथा रोमन लिपियों में प्रकाशित हुई थी। 1975 में भुवनवाणी ट्रस्ट, लखनऊ, ने इसका हिन्दी लिप्यन्तरण तथा अनुवाद छापा। लिप्यन्तरण एवं अनुवाद कश्मीर के प्रसिद्ध विद्वान डॉक्टर शिबनकृष्ण रैणा ने किया है। 'प्रकाशरामायण' कई मौलिक उद्भावनाओं तथा स्थानीय तत्त्वों के समावेश के कारण एक महत्त्वपूर्ण एवं लोकप्रिय कृति है।

'शर्मारामायण' के रचयिता पण्डित नीलकण्ठ शर्मा (1888-1971) का जन्म कश्मीर के एक मध्यवर्गीय धर्मप्राण कश्मीरी ब्राह्मण कुल में हुआ था। इन्होंने संस्कृत, हिन्दी, उर्दू तथा फारसी की शिक्षा घर में ही स्वश्रम से पाई। इनकी रुचि ज्योतिष, अध्यात्म तथा कविता में रही। 'शर्मारामायण ' इनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इस कृति में महाकाव्यों के अनुरूप ही विभिन्न रसों तथा अलंकारों का स्वाभाविक रूप से परिपाक हुआ है। कवि को युद्ध-चित्रण में अतीव सफलता मिली है। इस कृति में कई मौलिक उद्भावनाओं का समावेश किया गया है। हालाँकि यह ग्रंथ अभी प्रकाशित नहीं हुआ है, फिर भी इसका एक विशाल पाठक वर्ग है। इस कृति को पढ़ने के लिए न जाने कहाँ-कहाँ से लोग आया करते थे। कई लोगों ने तो अपने पढ़ने के लिए इसकी प्रतिलिपियाँ भी बनाई थीं। कहने का तात्पर्य यह कि पाण्डुलिपि अवस्था में होते हुए भी इस कृति ने एक विशाल पाठक वर्ग बनाया है, जो इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

महाकाव्यों के अतिरिक्त इस युग में लघुकाव्य तथा

मुक्तक भी लिखे गये। इस दिशा में परमानन्द का कार्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसी आधार पर इन्हें लीला-काव्य का प्रतिनिधि कवि माना जाता है। परमानन्द का वास्तविक नाम नन्दराम था। इनका जन्म भटन के निकट के एक गाँव सीर में 1791 में हुआ था। इन्होंने किसी मुल्ला के पास एक मक़तब में फ़ारसी की शिक्षा पाई थी तथा साधु-संन्यासियों के सम्पर्क से इनका परिचय भागवत, महाभारत, शिवपुराण तथा वेदान्तदर्शन से हुआ था। ये अपने पिता के बाद अपने गाँव के पटवारी बने थे। इनकी पत्नी मालद्यद इन्हें हर समय तीखे व्यंग्य बाणों से बेधती रहती थी। इनकी मृत्यु 1885 में हुई थी।

परमानन्द की काव्य-कृतियों का संकलन मास्टर ज़िन्दा कौल, प्रोफेसर श्रीकण्ठ तोषखानी, प्रोफेसर तोषखानी तथा मोतीलाल साक़ी ने किया। पृथ्वीनाथ मधुप ने भी इनकी रचित कविताओं का एक संग्रह तैयार कर इसका हिन्दी अनुवाद किया है। इस संग्रह में कश्मीरी काव्य का संक्षिप्त परिचय, परमानन्द की जीवनी तथा परमानन्द की संकलित कविताओं का देवनागरी में लिप्यन्तरण है। इस संग्रह को 'कविश्री माला : परमानन्द' के नाम से राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, वर्धा ने प्रकाशित किया है। परमानन्द के मुक्तक, अथवा लीलाएँ, स्तुतिपरक, दार्शनिक, नैतिक उपदेशों से युक्त तथा षट्चक्रोपासना आदि से युक्त हैं। इन मुक्तकों के अतिरिक्त इन्होंने 'राधा स्वयंवर', 'सुदामा चरित' तथा 'शिवलग्न' नामक लघुकाव्यों की रचना भी की है। इनकी कविता में कहीं भी कृत्रिमता नहीं, यह सीधे उनके हृदय से निःसृत हुई लगती है।

लीलाकाव्य के एक और हस्ताक्षर हैं परमानन्द के शिष्य लक्ष्मण कौल 'बुलबुल'। अपने गुरू के लघुकाव्य 'राधा स्वयंवर' का 'मोहिनी प्रसंग' इनका ही लिखा हुआ माना जाता है। इसके अतिरिक्त इनकी 'रामगीता' तथा कई अन्य स्तुतिपरक मुक्तक भी मिलते हैं। इनकी रचनाओं पर परमानन्द के काव्य की स्पष्ट छाप है।

लीलाकाव्य के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं कृष्ण राज़दान (1848-1927) जो काज़ीगुण्ड के निकट के एक गाँव वनपुह में जन्मे। इन्होंने कश्मीरी काव्य को श्रुति-मधुर शब्दावली के साथ-साथ संगीत-चेतना भी दी। इनकी रचनाओं में 'शिवलग्न' तथा सैकड़ों स्तुति एवं भक्तिपरक आदि लीलाएँ हैं।

लीलाकाव्य के एक और सशक्त कवि हैं पण्डित नीलकण्ठ शर्मा। कश्मीरी रामायण के सन्दर्भ में इनका उल्लेख हो चुका है पर लीलाकाव्य को भी इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा सम्पन्न बनाया है। इनकी लीलाएँ 'श्रद्धांजलि' नाम से स्वयं कवि ने संकलित की हैं। इस संकलन में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि से सम्बन्धित दो सौ से अधिक लीलाएँ संकलित हैं। विभिन्न सम्पादकों द्वारा सम्पादित अनेक संग्रहों में इनकी अनेक रचनाएँ संग्रहीत हैं। कश्मीरी भक्ति-गीतों के कैसेटों में भी इनकी कई रचनाओं को सम्मिलित किया गया है।

अन्य भक्त कवियों में 'अमृत-सागर' के रचयिता ठाकुर जुव मनवटी तथा 'कृष्णावतार' के रचनाकार मानजुव अत्तार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कश्मीरो काव्य की एक विशिष्ट काव्य-धारा सूफी-काव्य-धारा भी रही है। इस धारा के कवि स्त्री-पुरुष के तीव्र प्रेम के रूप के द्वारा आत्मा-परमात्मा के आपसी सम्बन्धों की ओर संकेत करते हैं। प्रतीकात्मकता तथा संगीतमयता भी इनके काव्य की विशेषता है। शाहगफ़ूर (वास्तविक नाम सुबहान शाह) इस धारा के एक विशिष्ट कवि हैं। ये बड़गाम नामक स्थान में जन्मे थे। इन पर हिन्दू शास्त्रों तथा दर्शनों का काफी प्रभाव था। स्वथक्राल इस धारा के दूसरे उल्लेखनीय कवि हैं। ये पुलवामा तहसील के एक गाँव में जन्मे थे। इनकी मृत्यु 1857 में हुई। इनके काव्य की विशेषता यह है कि इसमें रहस्यानुभूति को सरल शब्दों में सहजता के साथ कहा गया है। एक और सूफ़ी कवि हैं जिन्होंने गूढ़ विचारों को सरल शब्दावली दी है। इनका नाम है न्यामुॅ सॉब। ये श्रीनगर के चिन्क्राल मुहल्ले में जन्मे थे। इनकी मृत्यु 1880 में हुई थी। रहमान डार आठ-आठ पंक्तियों की छह पदों वाली कविता 'शशरंग' के कारण काफी प्रसिद्ध हैं। ये श्रीनगर के कूचाबल क्षेत्र में जन्मे थे। वाज़ुॅ महमूद एक ऐसे सूफ़ी कवि हैं जिन्होंने कविता को नये प्रतीक, नये छन्द तथा नये बिम्ब आदि दिये। अहमट बटवारी (1845-1918) अपनी एक कविता 'नय' (बाँसुरी) के कारण काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। इनके काव्य में भाव-सौंदर्य तथा संगीतमयता भी है। अनेक गीतों, ग़ज़लों के अतिरिक्त एक अत्यन्त लोकप्रिय प्रबन्ध काव्य 'अकुनन्दुन' रचने के कारण समद मीर ने भी काफी ख्याति अर्जित की है। सूफी साधना के गुह्य रहस्यों को जिन्होनें भयानक एवं वीभत्स बिम्बों द्वारा समझाने की कोशिश की, उनका नाम है अहद ज़रगर (1908-1984)। ज़रगर को कश्मीरी सूफी काव्य का अन्तिम प्रतिनिधि माना जाता है। लगभग सभी सूफी कवियों की रचनाएँ अमीन कामिल द्वारा सम्पादित 'सूफी शायर' भाग-1 तथा भाग-2 में संग्रहीत हुई हैं, जिसका प्रकाशन जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी ने किया है।

आधुनिक युग के एक महत्त्वपूर्ण कवि हैं गुलाम मुहम्मद महज़ूर। ये मित्रगाम नामक स्थान में 1885 ई. में जन्मे। अरबी-फारसी का ज्ञान अर्जित किया और पटवारी बन गये। महज़ूर ने कुल मिला कर मात्र 75 कविताएँ ही लिखीं, पर इनमें

से कई कविताओं में सामाजिक और राजनीतिक जागृति ने अभिव्यक्ति पाई। गुल-बुलबुल तथा 'बोंम्बुर' (भौंरा), यॅम्बुॅर्जल (नर्गिस) जैसे घिसे-पिटे प्रतीकों को नये अर्थ में प्रयोग किया तथा बोलचाल के निकट की भाषा अपनाई। इनकी एक सफल-सशक्त कविता 'ग्रीस्यकूर' (कृषक-बाला) ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का ध्यान भी अपनी ओर आकृष्ट किया। इनकी मृत्यु 1952 ई. में हुई।

अब्दुल अहद 'आज़ाद' (1903-1948) मानवतावाद और इन्कलाब के कवि थे। इन्होंने हर संकीर्णता के विरुद्ध आवाज़ उठाई। इन्होंने देशभक्ति, सामाजिक न्याय, आर्थिक समता और मानवतावाद को लेकर सशक्त रचनाएँ रचीं। इनकी श्रेष्ठ कविताओं में दरियाव (दरिया), वनुॅच यॉर (वन का चीड़), पांचादर (प्रपात) तथा व्यथ (वितस्ता) आदि हैं।

मास्टर ज़िन्दा कौल (1884-1965) एक गरीब परिवार में जन्मे अध्यापक थे। अध्यापक होने के नाते ही लोग इन्हें 'मास्टरजी' के नाम से जानते थे। इन्होंने आरम्भ में उर्दू, फ़ारसी और हिन्दी में कुछ कविताएँ लिखीं। इनकी 62 छोटी-बड़ी कविताओं का एक संग्रह 'दीवाने-साबित' के नाम से छपा है जिसका संकलन एवं सम्पादन डॉक्टर अर्जुनाथ रैणा ने किया है। 'पत्र-पुष्प' नाम से इनकी हिन्दी कविताओं का एक लघु संग्रह भी छपा है। कश्मीरी में इन्होंने मात्र 37 कविताएँ लिखी हैं, जो 'स्मरण' नामक संग्रह में संग्रहीत हैं। इनकी कश्मीरी कविताओं की विशेषता यह है कि इन्होंने ईश्वर और मनुष्य के रागात्मक सम्बन्धों को आधुनिक धरातल प्रदान किया, है।[18]

दीनानाथ 'नादिम', रहमान 'राही' और अमीन क़ामिल कश्मीरी कविता के ऐसे कवि हैं जो पहले प्रगतिवादी काव्यान्दोलन से जुड़े रहे और इस आन्दोलन के क्षीण पड़ने पर प्रयोगात्मकता से गुज़रते हुए नव्य भावबोध की कविता करने लगे। दीनानाथ 'नादिम' ने कश्मीरी कविता को नई भाषा एवं मुहावरा, नये-नये छन्द तथा नया कथ्य देने के साथ ही ऑपेरा तथा गीतिनाट्य भी दिया। इनकी कविताओं का एक संग्रह 'शिहिल्य कुल' नाम से छपा है। रहमान 'राही' (1625) की कल्पना कोमल एवं अति सूक्ष्म है। इनकी कविता में जीवन को टटकापन देने की व्यग्रता है। आज जो कविता कश्मीर में लिखी जा रही है, 'राही' उसके प्रतिनिधि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इनकी कविताओं के दो संकलन 'सनुॅवुॅन्य शार' तथा 'नवरोज़िसबा' प्रकाशित हो चुके हैं। मुहम्मद अमीन क़ामिल (1924) ने कश्मीरी कविता को नया लहज़ा दिया है। ये कविता को दुरूह एवं पहेली बनाने के पक्ष में नहीं हैं। इनके 'मसमलुॅर' तथा 'लवुॅ तुॅ प्रॅवुॅ' नाम से दो काव्य संग्रह छप चुके हैं।

साम्प्रतिक काल के अन्य उल्लेखनीय कवि हैं गुलाम नबी 'फ़िराक़', अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त गुलाम रसूल 'सन्तोष', चमनलाल 'चमन', मुज़फ्फर आज़िम, मोतीलाल 'साक़ी' और रसूल पोंपुर आदि।

कश्मीर में इस्लामी कट्टरतावाद एवं आतंकवाद के पराकाष्ठा तक पहुँचने पर जो विस्थापन हुआ, उसके परिणामस्वरूप कश्मीरी काव्य में विस्थापन के दर्द को शब्द देने वाली कविताएँ पिछले पाँच वर्षों से लिखी जा रही हैं। अब उसने एक धारा का रूप धारण किया है। इस धारा के प्रतिनिधि कवि हैं मोतीलाल 'साक़ी', शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम', अर्जुनदेव 'मजबूर' तथा चमनलाल 'चमन'। इस धारा की एक प्रतिनिधि कविता 'साक़ी' की 'मर्सी' (शोक-गीत) की कुछ पंक्तियाँ देखिए —

चट्टान की टेक लिये / उस बूढ़ी माँ के / प्रश्नों के उत्तर/ कौन देगा? हर दिन मेरी ओर / चलाती प्रश्नों के अंगिशर / हम लौट कब रहे-अपने-अपने घर ? / ··· जमीं होगी धूल / जाले जमे होंगे / वहाँ पूजा-घर में, गिरी होगी / बगिया की कच्ची चहारदीवारी पूरी / इन्तिज़ार कर रही होंगी/ वे भूखी गोरैयाँ / कौन करता होगा / सानी-पानी / बूढ़ी कामधेनु का ? / कुतर डाले होंगे / कपड़े पश्मीने के / चुहिया ने.....'

कश्मीरी गद्य का आरम्भ ईसाई पादरियों तथा मुसलमान मौलवियों के बाइबल तथा कुरान के कश्मीरी अनुवादों से (1821) माना जा सकता है, पर कश्मीरी गद्य के साहित्यिक रूप का आरम्भ पण्डित नन्दलाल कौल के 'सतुॅच कॅहवॅट' नामक नाटक से ही माना जाता है। नाटक-लेखन की दिशा में अली मुहम्मद लोन, मोतीलाल क्यमू तथा पुष्कर भान के नाम उल्लेखनीय हैं। लोन ने 'सुय्या' तथा क्यमू ने 'छाय' तथा 'नाटक त्रुच्य' नामक नाटक लिखे हैं। क्यमू की 'छाय' (छाया) को कश्मीरी नाटक की उपलब्धि माना जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य भाषाओं से भी अनेक नाटक कश्मीरी में अनूदित किये गये, जिससे कश्मीरी नाट्य साहित्य को काफी गति मिली है। कुछ ऐसी कृतियाँ हैं — पण्डित नीलकण्ठ शर्मा द्वारा अनूदित भास की नाट्यकृति 'स्वप्नवासवदत्ता'; नूर मुहम्मद रोशन द्वारा अनूदित रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'रक्तकर्वी', 'चण्डालिका'; अख़्तर मुहीउद्दीन द्वारा अनूदित इब्सन की 'दि घोस्ट' तथा डॉ. रतनलाल शान्त द्वारा अनूदित चेखव की 'थ्री सिसटर्स' आदि।

कश्मीरी कहानी-लेखन की दिशा में पहला प्रयास पण्डित दीनानाथ 'नादिम' ने 1948 ई. में 'जवाबी कार्ड' लिखकर किया।[19] इनके बाद इस विधा को अख़्तर मुहीउद्दीन (सथसंगर

तथा स्वन्ज़ल), अलीमुहम्मद लोन, अवतार कृष्ण रहबर (तबरुख), बंसी निर्दोष (बाल मरॉयो, आदम छु यिथय बदनाम तथा गिर्दाब), शंकर रैणा (ज़ित्यत्रिज़ूल), हृदय कौल भारती, हरिकृष्ण कौल तथा रतनलाल शान्त (अछिरवालन प्यठ कोह) आदि ने विकसित एवं समृद्ध किया।

कश्मीरी उपन्यास के नाम पर कुछेक किताबें प्रकाशित हुई हैं, पर इनमें से किसी को भी किसी साहित्यिक उपलब्धि के रूप में नहीं देखा जा सकता। डॉ. शशिशेखर के अनुसार कश्मीरी उपन्यास का श्रीगणेश 1923 ई. में प्रो. श्रीकण्ठ तोषखानी ने 'लीला' नामक उपन्यास लिख कर किया था।[20] इसके बाद अख़्तर मुहीउद्दीन ने 'दोद-दग़', तथा 'जुव तुँ जोलानुँ', अमीन कामिल ने 'दोद-दग़', अली मोहम्मद लोन ने 'अर्स्यति छि इनसान', गुलाम नबी गौहर ने 'मुजरिम' तथा 'म्युल', बंसी निर्दोष ने 'अखदोर' और अमर 'मालमोही' ने त्रेश तुँ तर्पन' नाम से उपन्यास लिखे। अन्य भाषाओं से भी कुछ अनुवाद (जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'चोखेर बाली' का 'अँछ किटुर' नाम से पृथ्वीनाथ पुष्प ने, टाल्सटाय के 'वार एण्ड पीस' का मुज़फ़्फ़र अजिम ने, गोर्की के 'मदर' का अली मुहम्मद लोन ने तथा जेम्स जस्टिन फेरियर के उपन्यास का 'हॉज बाबुँ' नाम से) किये गये, पर इनसे भी कोई अच्छा प्रभाव कश्मीरी उपन्यास-लेखन पर नहीं पड़ा।

कश्मीरी आलोचना अभी शैशवावस्था में है, पर कश्मीरी आलोचकों में 'नई आलोचना-भाषा और दृष्टि' का विकास धीरे-धीरे हो रहा है। आज तक आलोचना के नाम पर कश्मीरी में जो लिखा गया वह पत्र-पत्रिकाओं में लिखे आलोचनात्मक निबन्ध तथा कई संग्रहों की भूमिकाओं तक ही सीमित है। कुछेक स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी गई हैं, जिनमें अवतार कृष्ण रहबर की पुस्तक 'कॉशिरि अदबुँच तारीख', मोतीलाल साक़ी की पुस्तक 'गाशिर्य' तथा गुलाम नबी खयाल की पुस्तक 'गाशिर्य सुनार' का नाम लिया जा सकता है।

संस्कृत और कश्मीरी के अतिरिक्त कश्मीरियों ने फ़ारसी, उर्दू तथा हिन्दी साहित्य को भी काफी योगदान दिया है। कश्मीर में इस्लाम आने के बाद फ़ारसी को यहाँ की राजभाषा बनाया गया। कश्मीरी पण्डितों ने बहुत ही कम समय में फ़ारसी में भी योग्यता प्राप्त कर ली और सारा राज-कार्य फ़ारसी में करने लगे। इतना ही नहीं, वे शुद्ध फ़ारसी में गद्य-पद्य दोनों की रचना करने लगे। यहाँ के ही नहीं, ईरान तक के विषयों में ग़नी कश्मीरी का नाम साहित्यिक क्षेत्रों में आदर के साथ लिया जाता है। एक और मिसाल भवानीदास काचरू हैं। कश्मीर के अनेक इतिहास फ़ारसी में कश्मीरियों द्वारा लिखे गये। इनमें से मुल्ला अहमद, हैदर मलिक, पण्डित नारायण कौल, पीरज़ादा हसन, बीरबल काचरू, प्रकाशराम, पण्डित हरगोपाल कौल, आज़म द्यदमरी, मुंशी मुहम्मददीन तथा फौक कुछ प्रसिद्ध नाम हैं। इसी प्रकार कश्मीरियों ने उर्दू साहित्य को भी अपनी सशक्त लेखनी द्वारा समृद्ध किया। कौन नहीं जानता कि उर्दू के महान कवि मुहम्मद इक़बाल, जिनके पूर्वज गुलगाम के सप्रू खानदान से थे, कश्मीरी थे। इसी प्रकार रत्ननाथ धर 'सरशार', दयाशंकर कौल 'नसीम' और ब्रिजनारायण 'चकबस्त' उर्दू साहित्य के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। उर्दू साहित्य का कोई ऐसा विद्यार्थी न होगा जिसने पण्डित आनन्द नारायण मुल्ला, अमरनाथ मदन 'मस्त', त्रिभुवननाथ 'हिज्र', नन्दलाल कौल 'तालिब', दीनानाथ 'साहिर', नन्दलाल 'बेग़र्ज़', मीर गुलाम रसूल नाजकी तथा हबीबुल्लाह 'हामिदी' को न पढ़ा हो या नाम न सुना हो।

कश्मीर में हिन्दी कविता के आरम्भिक रूप के दर्शन हमें रूपभवानी (1625) के कई 'वाखों' में होते हैं। उसके बाद परमानन्द ने कई कविताएँ हिन्दी में लिखीं। कृष्ण राज़दान की कश्मीरी कविताओं में भी कुछ हिन्दी कविताएँ पाई जाती हैं। 'मास्टरजी' (ज़िन्दा कौल) का हिन्दी कविताओं का एक लघु संग्रह 'पत्र-पुष्प' नाम से छपा। पण्डित नीलकण्ठ शर्मा, ठाकुर जुव मनवटी तथा हलधर जुव क्वरू ने भी कई हिन्दी कविताएँ लिखीं, जो इनकी कृतियों में संकलित हैं। हिन्दी कविता के इस आरम्भिक दौर के बाद हिन्दी प्रचार ने एक आन्दोलन का रूप लिया। इस आन्दोलन के अगुआ थे पण्डित दीनानाथ 'दीन' तथा पण्डित दुर्गाप्रसाद काचरू। दोनों हिन्दी कवि थे, पर आजकल इनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। प्रोफेसर पृथ्वीनाथ 'पुष्प' एक और हिन्दी कवि एवं साहित्यकार हैं जिन्होंने स्वयं भी हिन्दी में लिखा और अन्य व्यक्तियों को भी हिन्दी-लेखन के लिए प्रेरित किया। कश्मीर में 'कश्मीर हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के स्थापित होने से हिन्दी कवियों एवं लेखकों का एक समर्पित दल अस्तित्व में आया, जिसने कश्मीर में हिन्दी की पताका को ऊँचा कर फहराने का काम अपने ऊपर लिया। इस दल के प्रमुख व्यक्ति थे मोहन निराश, शशिशेखर तोषखानी, चमनलाल सप्रू, पृथ्वीनाथ मधुप, मोतीलाल क्यमू, रतनलाल शान्त तथा मनोहर भट्ट आदि। 'कश्मीर हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के बाद 'जम्मू-कश्मीर राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति, श्रीनगर' ने हिन्दी प्रचार-प्रसार कार्य के साथ-साथ 'नीलजा' नाम से एक वार्षिक संकलन तथा 'सतीसर' नाम से एक त्रैमासिक बुलेटिन का प्रकाशन भी किया। इस समिति को प्रो. जे. डी. जाड़ू, प्रो. काशीनाथ धर तथा प्रो. लक्ष्मी नारायण सप्रू

जैसे विद्वानों का मार्गदर्शन, पण्डित शम्भुनाथ पारिमू जैसे कर्मठ कार्यकर्ता का सम्बल तथा डॉ. निज़ामुद्दीन, डॉ. अयूब 'प्रेमी', प्रो. चमनलाल सप्रू एवं पृथ्वीनाथ मधुप का निःस्वार्थ सहयोग प्राप्त हुआ। हिन्दी प्रचार की दिशा में मोतीलाल प्रमोद, मोतीलाल 'चातक' तथा श्री ओंकारनाथ गंजू आदि का कार्य अत्यन्त सराहनीय रहा।

मौलिक लेखन के क्षेत्र में जिन प्रतिनिधि साहित्यकारों ने अपना योगदान दिया, उनका उनकी कृतियों सहित उल्लेख निम्न पंक्तियों में किया जा रहा है—

श्री जानकीनाथ कौल 'कमल' (1914) व्यवसाय से अध्यापक रहे हैं और कश्मीरी में कविता करने के साथ-साथ हिन्दी में भी कविता लिखते हैं। इनकी भाषा, भाव तथा शैली पर छायावादी प्रभाव है। डॉ. अर्जुननाथ रैणा भी व्यवसाय से अध्यापक रहे हैं। 'जम्मू-कश्मीर का भूगोल' नामक अंग्रेजी पुस्तक लिखने के अतिरिक्त इन्होंने 'केसर के फूल' नाम से एक हिन्दी कहानी-संग्रह भी हिन्दी को दिया है। इस संग्रह में संग्रहीत कहानियों में कश्मीरी जनजीवन को उकेरने का प्रयास किया गया है। क्षेमलता वखलू के दो उपन्यास 'कश्मीर की धरती' तथा 'झील और कमल' प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें कश्मीर की लोकजीवन तथा लोक-संस्कृति को उभारने का प्रयत्न किया गया है। मोहन निराश (1934) आकाशवाणी से सेवानिवृत्त होकर कश्मीर में आतंकवाद फैलने के बाद दिल्ली में रह रहे हैं। आप कश्मीर में कई हिन्दी संस्थाओं से जुड़े रहे। कश्मीरी और हिन्दी में लिखते हैं। आपकी 'कृष्ण मेरा पर्याय' तथा 'कविता आवारा' आदि काव्य संकलन छप चुके हैं। हरिकृष्ण कौल (1934) व्यवसाय से अध्यापक रहे हैं। ये भी कश्मीर में आतंकवाद के कारण दिल्ली में रह रहे हैं। इनके दो कहानी संग्रह 'इस हमाम में' तथा 'टोकरी-भर धूप' प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी के साथ-साथ आप कश्मीरी के भी एक प्रतिष्ठित कहानीकार माने जाते हैं। पृथ्वीनाथ मधुप (1934) आप भी (केन्द्रीय विद्यालय संगठन की सेवा में) एक अध्यापक रहे हैं। सेवानिवृत्त होकर अपने घर कश्मीर जाने की ललक को हृदय में सँजोए अपने हज़ारों भाई-बहिनों की तरह जम्मू में अस्थायी तौर पर रह रहे हैं। आपके चार काव्य संकलन 'वे मुखर क्षण', 'खोया चेहरा', 'खुली आँख की दास्तान' तथा 'बबूल के साये में मोगरा' छप चुके हैं। चमनलाल सप्रू (1935) व्यवसाय से अध्यापक रहे हैं। सेवानिवृत्ति के पश्चात अब दिल्ली में रहते हैं। आप अध्यापक होने के अतिरिक्त एक कर्मठ हिन्दी कार्यकर्ता तथा कई पत्रिकाओं एवं पुस्तकों के सम्पादक रहे हैं। आपके दो निबन्ध संग्रह 'सन्तूर के स्वर' तथा 'केसर और कमल' छप चुके हैं। शशिशेखर तोषखानी (1935) प्रान्तीय सरकार की सेवा छोड़कर दिल्ली में रहकर फ्रीलान्सिंग कर रहे हैं। आप एक प्रतिभाशाली कवि होने के साथ अनुसंधित्सु भी हैं। आपका एक कविता संग्रह छप चुका है। 'कश्मीरी साहित्य का इतिहास' लिख कर आपने काफी ख्याति अर्जित की है। रतनलाल शान्त भी व्यवसाय से अध्यापक हैं। आप हिन्दी और कश्मीरी दोनों भाषाओं में लिखते हैं। हिन्दी में कवि के रूप में और कश्मीरी में एक कहानीकार के रूप में आप प्रतिष्ठित हैं। आपका एक कविता संग्रह 'खोटी किरणें' नाम से छप चुका है।

उक्त साहित्यकारों के अतिरिक्त सुविख्यात कवि स्व. गोपालकृष्ण कौल तथा उपन्यास लेखिका चन्द्रकान्ता भी कश्मीरी हैं। चन्द्रकान्ता के चार उपन्यास—'एलान गली जिन्दा है', 'बाकी सब खैरियत है', 'अर्थान्तर' एवं 'वितस्ता यहाँ बहती है' तथा एक कहानी संकलन 'पोशनूल की वापसी' प्रकाशित हो चुका है।

मौलिक लेखन के अतिरिक्त यहाँ के साहित्यकारों ने अनेक कश्मीरी कृतियों का हिन्दी में अनुवाद किया है। ऐसे अनुवादकों में डॉ. शिबनकृष्ण रैणा (1942) का नाम सर्वोपरि रखने के योग्य है, क्योंकि संख्या की दृष्टि से इन्होंने अनेक कश्मीरी कृतियों का अनुवाद किया है। इनके अतिरिक्त पृथ्वीनाथ पुष्प, शम्भुनाथ भट्ट 'हलीम', पृथ्वीनाथ मधुप, शशिशेखर तोषखानी तथा रतनलाल शान्त आदि ने भी एक-एक, दो-दो कश्मीरी पुस्तकों का अनुवाद किया है, जो पुस्तकों के रूप में प्रकाश में आया है।

उक्त वरिष्ठ कश्मीरी साहित्यकारों के पश्चात कश्मीरी हिन्दी साहित्यकारों की एक कनिष्ठ पीढ़ी भी साहित्य क्षेत्र में कार्यरत है। इस पीढ़ी के प्रतिनिधि साहित्यकार हैं डॉ. अग्निशेखर, महाराजकृष्ण सन्तोषी, डॉ. उपेन्द्र रैणा, डॉ. क्षमा कौल तथा संजना कौल। अग्निशेखर का एक कविता संकलन 'किसी भी समय' नाम से, संतोषी के दो काव्य संकलन 'इस बार शायद' तथा 'बर्फ पर नंगे पाँव' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। इन साहित्यकारों में काफी सम्भावनाएँ दीखती हैं।

संदर्भ

1. देखिए 'कश्मीरी साहित्य का इतिहास', लेखक डॉ. शशिशेखर तोषखानी।
2. वही, पृष्ठ 1
3. कश्मीरामण्डलं पुण्यं सर्वतीर्थमरिन्दम।
   तत्र नाग ह्नदाः पुण्यास्तत्र पुण्याः शिलोच्चयाः।।
   तत्र नद्यास्तथा पुण्याः पुण्यानि सरांस्यपि।
   देवालया महापुण्याः तेषां चैव तथाश्रमाः।।
   — नीलमत पुराण, श्लोक संख्या 24 - 25
4. दृष्टैश्च पूर्वभूभर्तृ प्रतिष्ठावस्तु शासनैः।
   प्रशस्तिपट्टैः शास्त्रैश्च शान्तोऽशेषभ्रमक्लमः।
   — राजतरंगिणी, प्रथम तरंग, पद्य 15
5. डॉ. रघुनाथ सिंह द्वारा सम्पादित जोनराजकृत राजतरंगिणी की भूमिका से।
6. (क) संसार सूः सारससारसारी संसार सूरिः ससुरासुरेऽसौ।
   (ख) तानीतानि ननून्नतानि तनितुं तुतिं नतोतीनि नो।
   — 'हरविजय' कृतिकार रत्नाकर, पद्य संख्या 15 तथा 132
7. प्रसादेसा पथि पथि चसा पवृतः सा पुरा सा। / पर्यङ्क सा दिशि दिशि च सा नास्ति तद्वियोगातुरस्य।।
   देहान्तः सा बहिरपि सा नास्ति दृश्यं द्वितीयां। / सा सा सा सा त्रिभुवनगता तन्मयं विश्वमेतत्।।
   संगमविरहवितर्के वरमिह विरहोन संगमस्तस्याः। / संगे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ।।
8. सदृशे पुरुषत्वेऽपि तुल्यपादकरोदरे / एकः प्रभुः परोदास इति चित्रविजृम्भितम।
   — दशावतार, 5,159
9. अलोलकमले चित्तललामकमलालये।
   दाहिचण्डि महामोहभङ्ग भीमबलामले।
   — देवीशतक, पद्य 74
10. धर्मार्थकाममोक्षेषु वेचक्षण्यं कलासु च। / प्रीतिंकरोति कीत्तिंच साधुकाव्य निबन्धनम्।।
    — काव्यांलकार, 1.1
11. यत्रार्थः शब्दोवा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थी।
    व्यङ्कतः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरभिः कथिताः।
    — ध्वन्यालोक, 1.13
12. महामहोपाध्याय पी. वी. काणे।
13. लम्बक : शुद्धरूप भम्भक, अर्थ : विवाह द्वारा स्त्री प्राप्ति।
14. 'कश्मीरी साहित्य का इतिहास' डॉ. शशिशेखर तोषखानी।
15. 'वाख', कश्मीरी का चार पंक्तियों का एक छन्द।
16. पाठ भेद : ग्वरन क्षेपॅनमकुनुय वचुन / न्बरत् वोनॅनम अन्दर अचुन।
    सुये म्य ललि गोम वाख तुॅं वचुन / तवय ह्योतुम नंगय नचुन।।
17. 'कश्मीरी साहित्य का इतिहास', डॉ. शशिशेखर तोषखानी, पृष्ठ 56
18. वही, पृष्ठ 257
19. देखिए, दीनानाथ नादिम : व्यक्ति और अभिव्यक्ति, सम्पादक प्रो. काशीनाथ दर, पृ. 20
20. देखिए, कश्मीरी साहित्य का इतिहास, लेखक : डॉ. शशिशेखर तोषखानी, पृष्ठ 335

कला के आयाम

वास्तुकला, मूर्तिकला तथा चित्रकला आदि में भी कश्मीरी कलाकारों ने संसार-भर में नाम कमाया था। इस बात का अन्दाज़ा हम प्राचीन कश्मीर के तोड़े गये मन्दिरों के अवशेषों तथा बची हुई मूर्तियों तथा इनके अवशेषों से लगा सकते हैं। यदि सिकन्दर बुतशिकन के कट्टरपन का उन्माद उसके सिर चढ़कर न बोलता तो कश्मीरी वास्तु एवं मूर्तिकला का स्पष्ट चित्र आज हमारे सामने होता और हिन्दू सभ्यता की यह अनमोल थाती दुनिया के सामने और भी बहुत कुछ बोल पाती। खैर, कश्मीरी वास्तुकला उन्नति के किस शिखर तक पहुँच चुकी थी, इसकी कहानी आज भी मार्त्तण्ड मन्दिर, अवन्तिपुर का विष्णु मन्दिर, नारानाग के मन्दिर, शंकराचार्य मन्दिर, मेरुवर्धन का शिव मन्दिर तथा बून्यार एवं ल्वोदुव आदि हज़ारों मन्दिर अपनी ज़बान से सुना रहे हैं। कहा जाता है कि मार्त्तण्ड मन्दिर महाराजा ललितादित्य ने बनवाया था। यह मन्दिर मट्टन गाँव के मार्त्तण्ड तीर्थ से लगभग तीन किलोमीटर दूर पहलगाँव जाने वाले मार्ग पर एक करेवा पर स्थित है। जिस स्थान पर यह मन्दिर बनवाया गया है वह स्थान, यंगहसबड़ के अनुसार, पार्थिनॉन, या ताजमहल या सेंट पीटर्स या एक्यूरियल से भी सुन्दरतर स्थान है। यह मन्दिर चट्टानों को तराश कर तथा बड़े-बड़े विषम चतुर्भुजों का आकार देकर बनाया गया है। स्थापत्य कला की इस महान कृति को, जोनराज के अनुसार, सिकन्दर बुतशिकन ने तबाह कर डाला। महाराज अवन्ति वर्मा द्वारा बनवाया गया मन्दिर श्रीनगर से 30 किलोमीटर दूर राष्ट्रीय राजमार्ग पर अवन्तिपुर नामक स्थान पर खण्डहर के रूप में खड़ा है। यह एक विष्णु मन्दिर था। मार्त्तण्ड की तुलना में यह छोटा है, पर प्राचीन कश्मीर की वास्तुकला का यह भी एक अनमोल नमूना है। महाराज अशोक के पुत्र जालुक ने भूतेश्वर पर्वत की तलहटी में तथा प्राचीन तीर्थ, जिसे आजकल नारानाग कहते हैं, के समीप मन्दिरों का एक समूह बनवाया। आजकल ये मन्दिर बहुत ही ख़स्ताहाल खण्डहरों के गिरे-बिखरे रूप में काई और घास के आवरण के नीचे हैं। कहा जाता है कि नारानाग तीर्थस्थल पर ही ऋषि वसिष्ठ का आश्रम था। यह भी कहा जाता है कि कल्हण ने इसी तीर्थ पर 'राजतरंगिणी' की रचना की थी। भगवान ज्येष्ठेश्वर को समर्पित शंकराचार्य मन्दिर महाराज गोपादित्य (253-328 ई.) ने बनवाया था। कश्मीरी पण्डितों में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार यह मन्दिर किसी राजा सन्दिमत् ने बनवाया था। जो हो, कहा जाता है कि प्राचीन मन्दिर की नींव ही बच पाई थी। फिर जहाँगीर के समय में किसी हिन्दू भक्त ने मन्दिर बनवाया जो आज तक विद्यमान है। दसवीं शती ई. में किसी मेरुवर्धन नामक मंत्री ने पत्थरों से एक शिवमन्दिर, जिसे मेरुवर्धन ही कहते हैं, आजकल के श्रीनगर के समीप, छावनी क्षेत्र में बनवाया। यह चतुर्भुज आकृति का है और बाहर से इसकी भुजाएँ 17 फुट माप की हैं। इसकी ऊँचाई 24 फुट है। श्रीनगर-उडी मार्ग पर बून्यार नामक स्थान पर एक प्राचीन मन्दिर है। गांधार भवनों से बहुत मेल रखने वाला एक अति प्राचीन मन्दिर लोंदुव नामक स्थान पर बना है। यह रुद्रेश मन्दिर के नाम से जाना जाता है। कश्मीर के मन्दिरों के सम्बन्ध में कहा जाता रहा है कि यदि प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के वास्तविक स्वरूप से साक्षात्कार करना हो तो कश्मीर के प्राचीन मन्दिरों के अवशेषों के अतिरिक्त इसका परिचय कहीं और नहीं मिल सकता। पर यही मन्दिर इतिहास के बदनुमा दाग़ों के पाग़लपन के कारण तोड़ दिये गये और इनसे मस्जिद, मकान, घाट, तट और मार्ग बना दिये गये।[1]

स्थापत्य और मूर्तिकला का चोली-दामन का साथ रहा है। कश्मीरी भवन-निर्माण कला के साथ-साथ यहाँ की वास्तुकला भी विकसित हुई है। मूर्तिकला का आरम्भ कश्मीर में कब हुआ? इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है। इस बारें में इतना ही कहा जा सकता है कि इस कला का अस्तित्व यहाँ प्राचीन काल से है।[2] हारवन नामक स्थान के निकट खुदाई करते समय कुछ ईंटें मिली हैं जिन पर नर्तकियों, घुड़सवारों, शिकारियों तथा संगीतकारों की आकृतियाँ बनी हैं। इन ईंटों को चौथी शती का बताया जाता है। इसी प्रकार 1920 ई. में हुष्कुर (प्राचीन हुष्कपुर) में मिट्टी की बनी कुछ मानव आकृतियाँ मिली हैं। ये मूर्तियाँ गांधार शैली में बनाई गई हैं। श्रीरामचन्द्र काक का मानना है कि ये मूर्तियाँ तब की हैं जब कश्मीर में बौद्धमत स्थापित हो चुका था। हूणों के शासनकाल में शिव के विभिन्न रूपों की मूर्तियों को बनवाया गया। कारकूटवंशीय राजाओं के युग में विभिन्न कलाओं ने खूब विकास पाया। इतिहास में इस युग को कलाओं का स्वर्ण-काल कहा जाता है। इस काल में अन्य कलाओं के साथ मूर्तिकला ने भी विकास पाया। महाराज

ललितादित्य के समय गुप्त शैली में अनेक मूर्तियों का निर्माण हुआ। इस बात की साक्षी मार्त्तण्ड की अमूल्य मूर्तियाँ हैं जिनमें से कुछ के भग्नावशेष श्रीनगर के अजायबघर में हैं। कहा जाता है कि मार्त्तण्ड मन्दिर में एक विशाल सूर्य मूर्ति थी, पर मूर्तिभंजकों ने इसकी क्या दशा की, कुछ पता नहीं। महाराज ललितादित्य के चीनी मंत्री च्निकुन ने भी बहुत सारी बौद्धशैली की मूर्तियाँ बनवाई थीं। इनमें से एक मूर्ति महात्मा बुद्ध की थी। यह मूर्ति आदमक़द थी और शादीपुर के बौद्ध विहार में बहुत समय तक स्थापित थी, पर कट्टरवादियों ने इसके टुकड़े-टुकड़े कर नष्ट कर दिया। अवन्ति वर्मा के समय में भी मूर्तिशिल्प ने काफी विकास पाया। अवन्तीपुर के अवन्तिस्वामी मन्दिर में एक भव्य और विशाल मूर्ति थी। इसके अतिरिक्त और भी कई मूर्तियाँ इस मन्दिर की शान में चार चाँद लगा रही थीं, जिनके कुछ भग्नावशेष आज भी श्रीनगर के संग्रहालय में हैं। आठवीं शती से लेकर चौदहवीं शती तक कश्मीर में शैव मत का काफी प्रभाव रहा है। इसके परिणामस्वरूप कश्मीरी मूर्तिकारों ने शैवमत के नियमों को आधार बनाकर अनेक मूर्तियों का निर्माण किया, जो कलात्मकता की दृष्टि से भी बहुत सराहनीय थीं। पर दुर्भाग्य से इन कलाकृतियों को बुतशिकन ने तुड़वा कर वितस्ता में प्रवाहित करवाया। चौदहवीं शती में मुसलमानों के आगमन पर हरेक कला की तरह मूर्तिकला की भी घोर अवनति हुई। उस समय कश्मीर के मन्दिरों में पत्थर आदि की मूर्तियों के साथ सोने तथा चाँदी की मूर्तियाँ थीं। इन मूर्तियों को गला कर मुसलमान सुल्तानों ने अपने नाम के सिक्के ढलवाये।

सोने-चाँदी की मूर्तियों के अतिरिक्त यहाँ काँसे की मूर्तियाँ भी निर्मित होती थीं। काँसे की तुलना में यहाँ पीतल का प्रयोग अधिक होता था। काँसे की मूर्तियाँ प्रायः खोखली हुआ करती थीं और इनमें से अधिकांश मूर्तियों की आँखें चाँदी तथा होंठ ताँबे के हैं। इनमें से अधिकांश मूर्तियों को कश्मीरी परिधान पहने हुए तथा कश्मीरी आभूषणों से सजाया गया है। धातुओं के अतिरिक्त यहाँ हाथीदाँत से भी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। ऐसी एक मूर्ति बम्बई के प्रिंस ऑफ वेल्ज़ संग्रहालय में सुरक्षित है। कश्मीरी मूर्तिकारों की बनाई कांस्य मूर्तियाँ संसार के अनेक संग्रहालयों में काफी संख्या में सुरक्षित हैं।

मुस्लिम शासनकाल के पश्चात उन्नीसवीं शती से मूर्तिकला की ओर पुनः ध्यान दिया गया। हिन्दुओं ने एक बार फिर मन्दिरों तथा घरों के लिए मूर्तियाँ बनानी आरम्भ कीं। ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से किसी ख़ास दर्जे की मूर्तियाँ नहीं थीं। इस प्रकार की मूर्तियाँ कश्मीर के गाँवों में बने मन्दिरों में हैं। डोगरा राजकाल में मूर्तिकला ने पुनः विकास पाया। इस दौर में कश्मीरी मूर्तिकारों ने जो मूर्तियाँ बनाईं, वे मिट्टी की हैं। इस दौर के कुछ ख्याति प्राप्त मूर्तिकारों के नाम हैं — नारायण मुरुँचगर, वासुँकाख और उनकी पुत्री तथा शम्भुनाथ कल्ला। आज़ादी के पश्चात जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी की स्थापना से मूर्तिकला को भी प्रोत्साहन मिल रहा है।

मूर्तिकला की तरह ही कश्मीरी चित्रकला की परम्परा भी प्राचीन है। इस बात के स्पष्ट संकेत 'नीलमत्पुराण', 'कुटिनिमत्काव्य', 'कथासरितसागर' तथा 'राजतरंगिणी' में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त 'बुर्ज़ुहोम' के निकट खुदाई में एक समतल लम्बा पत्थर मिला है, जिस पर दौड़ते हुए बारासिंघे का पीछा करते तीर-कमान लिये एक शिकारी को चित्रित किया गया है। श्रीप्रताप संग्रहालय, श्रीनगर में मिट्टी के बर्तनों के कुछ ऐसे टुकड़े हैं जिन पर स्त्री-पुरुषों के आकार चित्रित हैं। कश्मीर में चित्रकला की एक सुदीर्घ परम्परा थी, इस ओर कश्मीरी पण्डितों द्वारा मनाये जा रहे त्योहारों एवं ब्याह-शादियों आदि के अवसर पर डाली जाने वाली रंगोलियों, द्वार पर बनाये जाने वाले 'क्रूल' तथा 'गोरुँत्रय' आदि भी संकेत करते हैं। आषाढ़ शुक्ल सप्तमी के दिन हर कश्मीरी पण्डित घर के अन्दर घुसने के द्वार से लगे स्थान पर खुश्क रंगों, चूने तथा सब्ज़ पत्तों को सुखाकर बनाये गये चूर्ण से चढ़ते सूर्य की आकृति (रंगोली) बनाई जाती है। इसी प्रकार विवाहोत्सव एवं उपनयनोत्सव पर भी घर के आँगन में 'व्यूग'— एक विशेष प्रकार की रंगोली —बनाया जाता है। मेंहदीरात के दिन घर के प्रवेश द्वार के तीनों ओर चूने के पानी से लीपा जाता है। यह लेप सूखने पर इसके तीनों ओर गहरे रंगों से फूल-पत्तियाँ चित्रित की जाती हैं — इसी को कश्मीरी में क्रूल कहते हैं। माघशीर्ष शुक्ल तृतीया को कुलगुरु अपने यजमानों के बच्चों तथा नई वधू को गहरे रंगों तथा लम्बे-चौड़े काग़ज़ पर देवी-देवताओं के चित्रांकन भेंट करता है। इस चित्रांकन को कश्मीरी में 'गोरुँत्रय' कहते हैं। 'गोरुँत्रय' को चारों ओर फूल-पत्तियों तथा अन्य डिज़ाइनों से अलंकृत किया जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि चित्रकला धार्मिक और सामाजिक रूप से भी कश्मीरियों के साथ जुड़ी है।

प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता तारानाथ के अनुसार तीन सौ वर्ष ईसा पूर्व कश्मीर में बौद्ध चित्रकला का अभूतपूर्व विकास हुआ था। बौद्ध चित्रकला तीन शैलियों में विकसित हुई-नाग, यक्ष और देव। इन शैलियों में से नाग शैली का कश्मीर में खूब विकास हुआ। इसके अतिरिक्त कुछ चित्र बौद्ध सिद्धान्तों तथा जातक कथाओं के आधार पर भी चित्रित किये गये। कहा जाता है कि महाराज ललितादित्य के समय भी चित्रकला का खूब विकास

हुआ और एक नई चित्रशैली ने भी जन्म लिया। शैवदर्शन ने भी कश्मीर की चित्रकला को खूब प्रभावित किया। इसके प्रभावस्वरूप शिव एवं पार्वती को कई रूपों में चित्रित किया गया। इस प्रकार के चित्र मन्दिरों की दीवारों पर भी चित्रित किये गये थे। नौवीं शती में नेपाल, तिब्बत और कश्मीर के चित्रकारों ने एक दूसरे का प्रभाव ग्रहण किया और कश्मीर में एक नई चित्रशैली–पाला–का जन्म हुआ। 'राजतरंगिणी' में इस बात का संकेत है कि महाराज हर्ष के समय ऐसे भी चित्रकार थे जो सफेद कपड़े पर चित्र बनाने में सिद्धहस्त थे। सुल्तान चूँकि कला से बैर रखते थे, अतः इनके समय में चित्रकला का विकसित होना तो दूर, पुराने चित्रकारों ने जो चित्र बनाये थे उन्हें भी बिल्कुल नष्ट कर दिया गया। इनमें से केवल सुल्तान ज़ैनुलआबिदीन बड़शाह ने अन्य कलाओं के साथ चित्रकला को भी प्रोत्साहित किया।

हाँ, चकों और मुग़लों के दौर में चित्रकला की विकास–यात्रा पुनः शुरू हुई। चित्रकला की वह शैली जिसे 'कश्मीर स्कूल' का नाम दिया गया है, मुग़लों के समय में ही विकसित हुई। मुग़लों के समय में यहाँ एक कलादीर्घा भी स्थापित की गई थी, ऐसा 'तुज़कि जहाँगीरी' में लिखा है। पठानों एवं सिखों के समय में चित्रकारों को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। डोगरा शासन काल में चित्रकला फिर से विकास पाने लगी। इस समय की कुछ कलाकृतियाँ श्रीनगर की रिसर्च लाइब्रेरी (शोध पुस्तकालय) में हैं। स्वतन्त्रता के बाद चित्रकला को दो संस्थाओं—कल्चरल फ्रंट और जम्मू–कश्मीर कल्चरल अकादमी—ने पुनः विकसित करने का बीड़ा उठाया। कल्चरल फ्रंट से सम्बन्धित चित्रकारों ने कबाइली आक्रमणकारियों के नृशंस अत्याचारों को विषय बनाया। कहा जाता है कि सोमनाथ कौल तथा आर. सी. वांटू ने इस विषय पर उत्तम कलाकृतियाँ तैयार की थीं। हमारे समय के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त चित्रकार, जिनका प्रिय विषय तंत्र है, गुलाम रसूल सन्तोष अपनी कला के जौहर दिखा चुके हैं और दिखाते रहेंगे। बंसी पारिमू तथा मोहन रैणा भी आधुनिक काल के अच्छे चित्रकार थे। दृश्य चित्रण के क्षेत्र में सतलाल कम्पासी तथा दीनानाथ अलमस्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है। रैणावारी, श्रीनगर में जन्मे और दिल्ली में रह रहे मनोहर कौल कश्मीर के वरिष्ठ चित्रकार हैं, जिनका विषय कश्मीरी सुषमा है। इनके अतिरिक्त दिल्ली में ही रह रहे एक और सम्भावनाओं–भरे चित्रकार हैं वीर मुंशी, जिन्होंने कश्मीरी आतंकवाद से सम्बन्धित कुछ कलाकृतियाँ बनाई हैं।

संदर्भ

1. (a) ... but the destruction of the Kashmirian temples is universally attributed, both by history and by tradition, to the bigoted Sikandar, whose idol breading zeal procured him the tyle of But Shikan.
   (b) There was a certain method in the mad zeal of Sikandar, for he used the plinths and friezes of the old temples for the embankments of the city and for the foundation of the Jama Masjid.
   (c) Thus every mohamadan building in Kashmir is constructed either entirely or in part of the ruins of Hindu temples.

   देखिए The Valley of Kashmir, by Walter R. Lawrence, Page Nos. 166, 167 and 191.
2. देखिए, नीलमत पुराण, अध्याय दशम का 4, 9, 410, 521 तथा 545वाँ श्लोक, तथा राजतरंगिणी, चतुर्थ तरंग का 239 तथा 275वाँ श्लोक।

संगीत और नृत्य

कश्मीरी लोक संगीत की कहानी बहुत पुरानी एवं विशाल है। यह संगीत अनेक धाराओं में प्रवाहित होता रहा है। इस विशाल धारा की उपधाराएँ हैं — वनवुन (ब्याह-शादी पर गाये जाने वाले गीत), छकुँर (खुशी के अवसरों पर गाये जाने वाले वाद्य गीत), रॅव्य बॉथ (महिला नृत्य गान), कमिल्य बॉथ (कृषक-गान), बान्डुँजश्नुँ (भांडों का गायन), लड़ीशाह (हास्य-व्यंग्य गान) तथा वान (मृत्यु-गीत) आदि।

कश्मीरी लोक नृत्य

वनवुन: यज्ञोपवीत संस्कार, विवाह तथा खुतने आदि अवसरों पर महिलाएँ जिन लोक-गीतों को अपने विशेष अन्दाज़ और लय में गाती हैं, उसे वनवुन कहते हैं। वनवुन गायन शैली तथा भाषा के आधार पर दो प्रशाखाओं में बँटा है — कश्मीरी पण्डितों का वनवुन (बटुँवनवुन) तथा मुसलमानों का वनवुन (मुसलमान वनवुन)। कश्मीरी पण्डितों के गायन की शैली कुछ-कुछ शास्त्रीय गायन से मिलती है। इस 'वनवुन' की विशिष्टता यह है कि इसके गायन में "वैदिक शब्दों का उदात्त, अनुदात्त और स्वरित संगीतात्मक स्वराघात" सुरक्षित है।[1] इसमें संस्कृत शब्दावली का भी प्रयोग होता है। मुसलमानों के वनवुन की शैली द्रुत है और इसमें फ़ारसी शब्दों की बहुलता भी होती है। 'वनवुन' के साथ कोई वाद्य नहीं बजता। कश्मीरी लोक-गीतों की अन्य धाराओं की अपेक्षा लोकगीत की यह धारा अधिक सम्पन्न एवं वैविध्यपूर्ण है। इन लोक-गीतों को यदि कश्मीरी सामाजिक जीवन का दर्पण कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी।

छकुँर कश्मीरी लोक-संगीत की मधुरतम एवं जीवन्त धारा है। यह खुशी के अवसरों, मेलों तथा त्योहारों आदि पर सवाद्य गाई जाती है। छकुँर गानों का विषय प्रायः नेह-प्यार, मानसिक उल्लास, ससुरालियों द्वारा बहू पर ढाये जाने वाले जुल्म, मायके का प्यार, शादी से सम्बन्धित विभिन्न रस्मों तथा भक्ति आदि होते हैं। इस प्रकार के गायन के वाद्य हैं तुम्बखनॉर[2], घड़ा और सारन (एक तरह की छोटी सारंगी)। छकुँर गाने वाली मंडली

का एक नेता होता है। यही नेता छँकुर-गान के प्रत्येक अंश का नेतृत्व करता है, फिर उसके साथी नेता द्वारा गाये अंश को दुहराते हैं। हर अंश के अन्त में लय को बढ़ाते हुए गान की धुन विभिन्न लयकारियों में बजा कर उस अंश को पूरा किया जाता है। गान के अन्य अंश भी इसी क्रम का अनुसरण करते हुए गाये जाते हैं।

रॅव्य महिलाओं विशेषकर तरुणियों का गायन है। रॅव्य-गानों का विषय प्राय: यौवन की उमंग, मायके तथा ससुराल का जीवन तथा प्रेम आदि है। इसके साथ कोई वाद्य नहीं बजता, पर आधुनिक संगीतकारों ने इसे रेडियो, दूरदर्शन की चीज़ बना कर सवाद्य बना दिया है।

कमिल्य बॉथ वे लोकगीत हैं जो किसानों द्वारा जुते खेत के डले तोड़ते समय, धान की पनीरी रोपते समय और निराई आदि करते समय गाये जाते हैं। ये गान ऊँचे समवेत स्वर में पुरुषों एवं स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। पहले गान के एक अंश को कोई गाता है, फिर बाकी लोग उसी लय में उसका अनुसरण करते हैं। ये गान गाते समय किसान अपनी सारी चिन्ताएँ एवं थकान भूल जाते हैं और उनके हाथ यन्त्रवत काम करते रहते हैं।

बान्डुॅजश्नुॅ कश्मीरी भाण्डों की बपौती है। ये लोग अपना 'डुमडुमुॅ (ढोल) तथा 'स्वरनय' (शहनाई) लेकर ब्याह-शादी सम्पन्न होने, ईद, नवरेह (वर्ष प्रतिपदा), शिवरात्रि या किसी अन्य खुशी के अवसर पर आँगन में आ जाते हैं तथा डुमडुमुॅ और स्वरनय बजा कर बधाई के गीत गाते हैं। कभी गीत न गाकर अपने वाद्यों पर कश्मीरी लोकधुनें बजाकर सुनने वालों का मनोरंजन करते हैं और घर के मालिक से नेग पाकर दुआएँ देते हुए चले जाते हैं।

लड़ीशाह हास्य-व्यंग्य से ओतप्रोत गाने हैं, जिन्हें एक व्यक्ति एक वाद्य विशेष के साथ गाता है। इस प्रकार के गाने, विशेष लबो-लहज़े में, गाने वाला भी लड़ीशाह ही कहलाता है। लड़ीशाह को मीरासी की तरह का ही समझा जा सकता है। कश्मीरी लोक-संगीत में लड़ीशाह बहुत ही लोकप्रिय था। शहर, कस्बे या गाँव किसी भी स्थान पर लड़ीशाह अपना वाद्य लेकर जब भी आता, लोग उसके इर्द-गिर्द एकत्रित हो जाते और बड़ी रुचि से उसे सुनते। कश्मीरी लोक-संगीत की अन्य धाराओं के साथ लड़ीशाह की तुलना करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कश्मीरी लोक-संगीत की यह धारा काफी जीवन्त रही है, पर पिछले पाँच-छह दशकों से देखने में आया है कि लड़ीशाह बिल्कुल समाप्त हो गया है। इस तरह के गीतों का विषय कोई दैवी प्रकोप, दुर्घटना, देश-समाज को प्रभावित करने वाली कोई विशेष घटना होता है। प्रस्तुति में गहरे व्यंग्य एवं हास्य के साथ-साथ ऐतिहासिक सत्य भी काफी मात्रा में सन्निहित रहता है। यदि कश्मीर के इतिहास की उन घटनाओं का पता लगाना हो जो अपरिचितता के घुप्प अँधेरे में खो गई हैं तो लोक-गीतों की इस धारा का सुनियोजित ढंग से अध्ययन किया जाना चाहिए। लड़ीशाह द्वारा जो वाद्य बजाया जाता है, उसे भी लड़ीशाह या त्रुमत्रुमुॅ कहते हैं। त्रुमत्रुमुॅ एक ताल वाद्य हैं। लगभग पौन मीटर लोहे की छड़ में दर्जनों लोहे के छल्ले डालकर इसके दोनों सिरों को मोड़ देते हैं। इसे बजाने के लिए इसके मुड़े हुए एक सिरे को बाएँ बगल के साथ टिका कर तथा दूसरे मुड़े सिरे को बाएँ हाथ से पकड़ कर दाएँ हाथ से लोहे के छल्लों को एक विशेष लय में संचालित रखने का क्रम जारी रखते हुए लयात्मक ध्वनि पैदा की जाती है।

वान किसी बुजुर्ग पुरुष या महिला के स्वर्गवास होने पर गाये जाते थे। इनका विषय वैराग्य, संसार की असारता, भक्ति आदि हुआ करता था। कुल मिला कर यह मन के शोक नामक भाव की अभिव्यक्ति हुआ करती थी। इसे महिलाएँ ही गाती थीं। कोई वृद्ध महिला, जिसे 'वान'-गीत याद हों, इनका एक-एक अंश करुणापूर्ण लहजे में गाती थी और शेष महिलाएँ इसका अनुसरण करती थीं। सुना है कि 'वान' गाते समय महिलाएँ बाएँ हाथ के इर्द-गिर्द दाएँ हाथ को चक्राकर घुमाती थी। ऐसा करते समय दोनों हथेलियाँ उनके वक्ष की ओर रहती थीं। 'वान' गाने का प्रचलन आज से सात-आठ दशक पहले तक था, पर अब यह रिवाज़ खत्म हो गया है।

कश्मीरी संगीत की एक शैली 'सूफ्ययानुॅ क़लाम' भी है। 'सूफ्ययानुॅ क़लाम' या सूफियाना संगीत क्या है, इस सम्बन्ध में कश्मीर के एक जाने-माने संगीतकार पृथ्वीनाथ रैणा का कहना है कि "कश्मीरी सूफियों ने कश्मीरी भाषा में गीत रचना करके इसे अरबी संगीत की विभिन्न धुनों या रागों में बाँध लिया।" अरब संगीत में बारह राग या मकाम हैं। समय-समय पर इन रागों पर भारतीय राग-रागिनियों का भी प्रभाव पड़ा और इस आधार पर नये राग या मकाम बनाये गये। कौन-सा मकाम या राग कब गाया जाये, इसके लिए भी समय नियत होता है। इस संगीत के साथ संतूर, सेतारुॅ यामधम, कश्मीरी साज़ तथा दुकरुॅ बजता है। कश्मीरी सेतारुॅ (सितार) सितार से बहुत छोटा होता है। इसमें पीतल की सात तारें और धागे के परदे लगे होते हैं, जिन्हें आवश्यकतानुसार ऊपर-नीचे किया जा सकता है। कश्मीरी साज़ या कॉशुर साज़ लकड़ी का बना होता है। इसके नीचे और ऊपर दो तूम्बे लगे होते हैं जिन पर चमड़ा मढ़ा होता है। ये तूम्बे एक पतली और सुडौल डाँड से जुड़े होते हैं।

डाँड पर धागे के परदे लगे होते हैं। इस पर ताँत की तारें होती हैं, जिन्हें डाँड की चोटी पर लगी चाबियों से कसा जाता है। इस वाद्य को जिससे बजाया जाता है, उसे गज़ कहते हैं। ताल और लय के लिए दुकरूँ (तबले) का प्रयोग किया जाता है।

कश्मीरी लोक-नृत्य के नाम पर यहाँ कुछ अधिक नहीं है। ले-देकर कुल दम्बॉल्य, हिकुॅट और बचि-नग्मुॅ नाम से तीन नृत्य हैं। कहा जाता है कि 'दम्बॉल्य' यहाँ का पुराना लोक-नृत्य है। यह नृत्य बहुत साधारण है और पुरुषों का नृत्य है। यह किसी पीर-फ़कीर के 'उरुस' (मेला) पर किया जाता है। नर्तकों की संख्या निश्चित नहीं और न ही इसमें किसी विशेष पहनावे या मेकअप की ज़रूरत है। नर्तक अपने-अपने परिधान पहने एक वृत्त में खड़े हो जाते हैं। 'डुमडुम' यानी ढोल पर चोट पड़ती है तो ये इसकी ध्वनि पर उछल-कूद करते हैं। कभी-कभी ये नर्तक हाथ में लाठियाँ लेकर एक दूसरे पर पिल भी पड़ते हैं। इन नर्तकों को 'दम्बालि फ़कीर' कहते हैं। लोक-विश्वास है कि यदि किसी छोटे बच्चे को 'दम्बालि फ़कीर' की गोद में नृत्य करते-करते डाला जाए और 'दम्बालि फ़कीर' इस बच्चे को गोद में लिये या कन्धों पर चढ़ा कर 'दम्बॉल्य' करे तो बच्चा दीर्घायु हो जाता है।

हिकुॅट भी एक साधारण नृत्य है जो बालाओं तथा तरुणियों का नृत्य है। दो लड़कियाँ एक दूसरे के आमने-सामने खड़ी होकर तथा बाँहों को एक दूसरे पर रख, गुणा (×) चिन्ह-सा बना कर एक दूसरे का हाथ पकड़ती हैं और धीरे-धीरे 'हिकुॅट' के बोल बोलते हुए वृत्ताकार नाचती हैं। नाच पहले धीमी गति से शुरू होता है। एक लड़की एक बोल बोलती है और दूसरी इसका जवाब देती है। अन्तिम दो बोलों तक पहुँचते-पहुँचते नाच एवं इसकी लय तेज़ हो जाती है। इतनी तेज़ कि नर्तकियों की चुनरियाँ गिर जाती हैं और चोटियाँ एवं परांधे हवा में लहराने लगते हैं। इस नृत्य का एक बोल इस प्रकार है—

> ग्रटुॅ पलादी तव / यतिछुतुॅ नी तव / बॅड मॉज्य क्वोत गॉमुॅच़ / पशस प्यठ प्यामुॅच़ / तस क्या ज़ामुत / न्यचिव्य पला / नाव क्या क्वोरवोस / सदानन्द / नॉल्य क्या छुनवोस / फ्यरन तुॅ पोछ़ / कलस क्या छ्युतुवोस / कोरि कलपोश / ख्योन क्या छ्युतवोस / स्वच़ल तुॅ स्वोॅय / स्वॅ कॅहज़ि वारि / गिलिहुॅज़ि वारि / गिलमा मारि / वोंदय दारि।

अर्थात्, ज़रा अपनी चक्की देना। यह पड़ी है ले लो। बड़ी बहू कहाँ है ? उसका बच्चा हुआ है। क्या जना है उसने ? प्यारा-प्यारा मुन्ना। नाम क्या रखा ? सदानन्द। उसे क्या पहनाया ? फारन और पोछ़। सिर किससे ढक लिया ? लड़कियों को पहनाई जाने वाली टोपी से। खाने को क्या दिया (बहू को) ? स्वच़ल[3] का साग और बिच्छू बूटी[4] के कोमल पत्ते। किस बगिया से लाये ? गिल (नामक महिला) की बगिया से। वह बुरा तो नहीं मानी ? बुरा काहे को मानती। उसने हमसे रुपया जो उधार लिया था।

बचि नग्मुॅ की शुरुआत कश्मीर में पठानों के आने से हुई है। अतः यह नृत्य कश्मीर की मिट्टी से नहीं उपजा। इस नृत्य में एक गोरा-सा लड़का स्त्रियों का परिधान पहन, बन-ठन कर लम्बे केश लहराता, आँखें मटकाता, शरीर को भौंडे तरीके से घुमाता और नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीत की पंक्तियों को दुहराता हुआ आता है। नाचता जाता है और अपनी बेढंगी हरकतों को दुहराता जाता है।

कश्मीरी लोक-गीत गाने वाले कलाकारों में गोपीनाथ भट्ठ जो 'गुपुॅ बचि' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, लोकप्रियता के आधार पर सर्वोपरि हैं। इस लोक कलाकार का जन्म

बाचा नगमा : कश्मीरी लोक नृत्य

अन्तनाग में 1920 ई. में हुआ। पढ़ने-लिखने में इनकी रुचि नहीं थी, इसी कारण केवल नौवीं कक्षा तक ही पढ़ पाये। गाने और नाचने का शौक था अत: बचपन से ही इस काम में लगे। कश्मीर के कई सन्तों-फकीरों तथा तीर्थस्थानों एवं उर्सों में अपने गायन एवं नृत्य का कमाल दिखाया। बख्शी गुलाम मुहम्मद की प्रेरणा से आयोजित 'जश्ने-कश्मीर' के आयोजनों में गाया-नृत्य किया। बख्शी साहब से इन्हें काफी प्रोत्साहन मिला। अन्य लोक-गायकों में अब्दुल ग़नी नमतुँहाली, जियालाल 'टॉगुं', रामकृष्ण 'छकरी' आदि उल्लेखनीय हैं। रेडियो कश्मीर, श्रीनगर की स्थापना से जिन गायक-गायिकाओं ने प्रसिद्धि पाई, उनमें गुलाम अहमद सोफी, गुलाम हसन सोफी, राज बेगम तथा ज़ूनुं बेगम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कश्मीर में जिन संगीतकार गायकों ने संगीत की शिक्षा देकर इसका प्रचार किया उनमें जगन्नाथ शिवपुरी, शम्भुनाथ सोपोरी तथा पृथ्वीनाथ रैणा विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शिवपुरी का जन्म 1919 ई. में श्रीनगर में हुआ। इन्हें अपने चाचा आफ्ताबराम को लीलाएँ गाते सुन कर गाने का शौक हुआ और बचपन से ही गाने का अभ्यास करने लगे। उन्तीस वर्ष की आयु से ही 'प्रेम संगीत मन्दिर' नाम से एक संगीत संस्था की स्थापना कर संगीत की शिक्षा देने लगे। 1942 ई. में इनका सम्पर्क के. सी. बनर्जी के साथ हुआ। इनसे शिवपुरी जी ने संगीत की शिक्षा ली। सन् 1951 ई. में प्रेम संगीत मंदिर का नाम 'प्रेम संगीत निकेतन' कर लिया और इसे गंधर्व महाविद्यालय मण्डल, बम्बई से सम्बद्ध कराया। स्वयं भी गंधर्व महाविद्यालय मण्डल, बम्बई से संगीतालंकार की उपाधि प्राप्त की। इन्होंने 'सोफियाना मौसीक़ी सरगम' नाम से एक पुस्तक भी लिखी है।

शम्भुनाथ सोपोरी का जन्म 1919 ई. में सोपोर में हुआ। इनके पिता और दादा भी संगीतकार थे, अत: कहा जा सकता है कि इन्हें संगीत पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिला है। 1947 ई. में सोपोर से श्रीनगर आये और एस. पी. स्कूल तथा इसके बाद टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज तथा वीमेन्स कॉलेज आदि में संगीत की शिक्षा देते रहे। बख्शी गुलाम मुहम्मद ने इन्हें काफी प्रोत्साहन दिया। 1989 ई. से ये दिल्ली में रह रहे हैं।

पृथ्वीनाथ रैणा का जन्म श्रीनगर में सन् 1929 ई. में हुआ। घर में संगीतमय वातावरण होने के कारण आपको बाल्यकाल से ही संगीत के प्रति काफी रुचि रही। आपने नियमपूर्वक मास्टर बलराम सिंह (महाराज हरिसिंह जी के दरबारी गायक), विलायत हुसैन खाँ तथा जी. एम. कपूर से शास्त्रीय तथा उपशास्त्रीय संगीत की शिक्षा ली। आपने गंधर्व महाविद्यालय मण्डल, बम्बई तथा प्रयाग संगीत समिति, इलाहाबाद से गायन में क्रमश: संगीत विशारद एवं संगीत अलंकार तथा संगीत प्रभाकर एवं संगीत प्रवीण की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। इसके अतिरिक्त आपने प्रभाकर तथा एम. ए. (हिन्दी) की उपाधियाँ भी प्राप्त की हैं। आपने कश्मीर के कई महाविद्यालयों में हिन्दी प्रवक्ता के रूप में काम करने के साथ-साथ प्रेम संगीत निकेतन, संगीत महाविद्यालय तथा शारंग संगीत सदन में अनेक छात्र-छात्राओं को दीक्षा दी है। जम्मू-कश्मीर इन्स्टीच्यूट ऑफ फाइन आर्ट्स में आपने प्राध्यापक एवं संगीत विभागाध्यक्ष के रूप में सराहनीय कार्य किया है। 1986 ई. से (अवकाश प्राप्ति के पश्चात) आप ने जम्मू में 'शारदा संगीताश्रम' की स्थापना की है, जहाँ आप छात्र-छात्राओं को संगीत की शिक्षा दे रहे हैं।

कश्मीर के दो संगीतकार अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। पहले हैं पं. शिवकुमार शर्मा और दूसरे भजन सोपोरी। दोनों ही संतूर वादक हैं। भजन सोपोरी अभी युवा हैं और उनसे आगे भी उम्मीद है।

पंडित शिवकुमार शर्मा को यह श्रेय जाता है कि संतूर जैसे लोकवाद्य को शास्त्रीय संगीत-वादन के क्षेत्र में न केवल स्वीकार्य बनाया, बल्कि इस वाद्य की ओर पूरे देश का ध्यान आकर्षित किया। पं. शिवकुमार शर्मा की गिनती देश के चुनींदा संगीतकारों में होती है। वे पूरे भारत को कश्मीर की ओर से मिला एक खूबसूरत तोहफा हैं।

संदर्भ

1. देखिए-'कश्मीर साहित्य का इतिहास', डॉ. शशिशेखर तोषखानी, पृष्ठ 4
2. इस वाद्य का परिचय पुस्तक में अन्यत्र दिया है।
3. स्वचल, एक प्रकार का जंगली साग (जो अब बगियाओं में भी उगाया जाता है।) इसके गोल-गोल पत्ते होते हैं। पकाने पर इसका स्वाद भिण्डी के स्वाद जैसा लगता है। इसमें लोहतत्व की काफी मात्रा होती है।
4. बिच्छू बूटी के फूटते पत्ते सब्जी के रूप में पकाये जाते रहे हैं। शहरीकरण के कारण अब ये सुगमता से मिलते नहीं, अत: अब इसकी सब्जी नहीं बनती। बिच्छू बूटी में अलाभकारी जीवाणुओं को मारने की असीम क्षमता है।

केसर–कथा
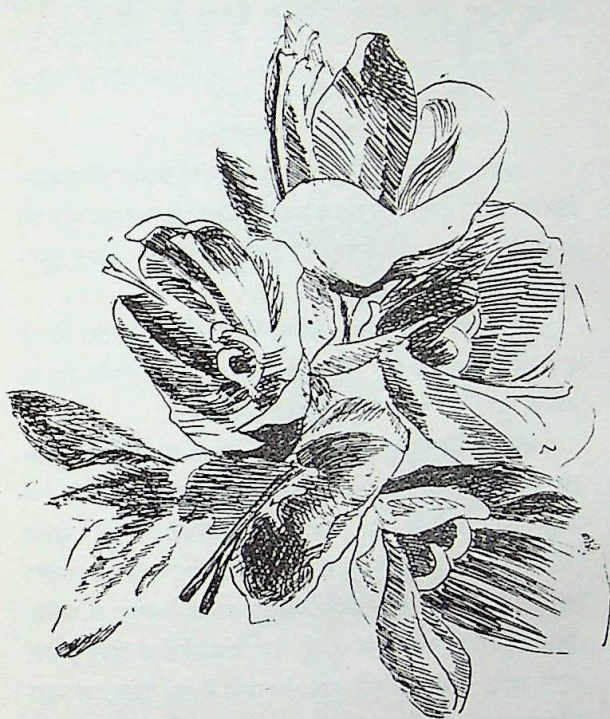
केसर का फूल

केसर का एक नाम 'कश्मीरज' भी है। इस पुष्प विशेष के इस नाम से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि केसर पुराकाल से कश्मीर की ही उपज रही है। इस धारणा की पुष्टि महाभारत के उस प्रसंग से भी होतीं है जिसमें कहा गया है कि महाभारत युद्ध में विजयश्री वरण करने के पश्चात हिमालय अंचल के राजाओं ने धर्मराज युधिष्ठिर को जो उपहार दिये, उनमें केसर भी था। यह केसर निश्चय ही हिमालय के दामन में स्थित विश्वविख्यात कश्मीर घाटी में उपजा केसर ही रहा होगा।

केसर को केशर तथा कुंकुम नामों से भी जाना जाता है। केसर का वनस्पतिशास्त्रीय नाम 'क्रोकस सैटिवस' है। यह आइरिस परिवार का पौधा है।

कश्मीर में केसर की खेती पाम्पुर नामक स्थान में होती है। पाम्पुर (प्राचीन नाम पद्मपुर, जिसे महाराजा ललितादित्य के मन्त्री पद्म ने बसाया था) श्रीनगर–जम्मू राष्ट्रीय मार्ग पर श्रीनगर से सोलह किलोमीटर दूर है। पाम्पुर के अतिरिक्त कश्मीर के किश्तवाड़ नामक स्थान में भी केसर की खेती होती है। कश्मीर का कृषि विभाग इस प्रयत्न में भी है कि इन दो स्थानों के अतिरिक्त घाटी के किसी भी स्थान पर केसर उपजाया जा सके। इस सम्बन्ध में यह विभाग अनुसंधान कर रहा है, पर प्राप्त सूचनाओं के आधार पर इसे अभी कोई विशेष सफलता नहीं मिली है।

प्राचीन हिन्दू युग में कश्मीर में केसर की खेती बहुत बड़े पैमाने पर होती थी, फलतः केसर का उत्पादन भी उसी अनुपात में होता था। इससे अनेक लोगों को आजीविका मिलाती थी और राज्य को भी काफी आय होती थी। हिन्दू युग के पश्चात इसका उत्पादन काफी घटा।

मुग़लों के ज़माने में केसर के उत्पादन की पुनः अभिवृद्धि हुई। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आईने–अकबरी' में अबुल फ़ज़ल ने लिखा है कि उस ज़माने के कश्मीर में दस–बारह हज़ार बीघा भूमि में केसर उगाया जाता था।

अफ़गानों के समय में केसर–उत्पादन में फिर ह्रास हुआ। डोगरा शासकों ने इसके उत्पादन को बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया। कहा जाता है कि महाराजा रणवीर सिंह जी के शासन काल में केसर उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई।

अंग्रेज़ी शासनकाल के तत्कालीन सेटलमेंट कमिश्नर वाल्टर आर. लारेंस ने अपनी पुस्तक 'द वेली ऑफ कश्मीर' में सन् 1887 ई. में किये गये सर्वेक्षण के आधार पर लिखा था कि यहाँ चार हज़ार पाँच सौ इक्कीस एकड़ भूमि पर केसर की खेती की जा सकती है, लेकिन इसमें केवल एक सौ बत्तीस एकड़ भूमि पर ही केसर की खेती होती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात केसर के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई है। विदेशों में भी इसकी माँग बढ़ रही है। कश्मीर सरकार के कृषि विभाग के सद्प्रयासों एवं सफल परीक्षणों से आने वाले वर्षों में केसर के उत्पादन में रिकार्ड उत्पादन की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

हिन्दू केसर को मांगलिक चीज़ मानते हैं। अनेक धर्मनिष्ठ हिन्दू अपने माथे पर केसर का तिलक लगाते हैं। पुराने समय में किसी अभियान पर जाने से पूर्व हिन्दू केसर का तिलक लगाकर निकलते थे। आजकल भी यह परम्परा काफी हद तक कायम है। जब राष्ट्रपिता महात्मा गाांधी ऐतिहासिक डांडी यात्रा

आरम्भ कर रहे थे तो उनके माथे पर केसर का तिलक लगाया गया था। केसर का उपयोग औषधियों एवं सुगन्धि निर्माण आदि में भी किया जाता है। पुराकाल में कई लोग अपने वस्त्र केसर के रंग से ही रँगते थे, जिनमें से आयरलैण्ड के सम्राट के चोग़ों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। यहूदी बहुत ही गर्व एवं चाव से केसर-रँगी कमीज़ पहनते थे। कहा जाता है कि यूनान और रोम के लोग अपनी नाट्यशालाओं तथा राजसभा-कक्षों को सुरभित करने के लिए केसर-रस का छिड़काव करते थे। कश्मीरी पण्डित चित्रों एवं जन्मपत्रियों के हाशिये रँगने के लिए कुंकम का प्रयोग करते थे। तांत्रिक लोग कई यन्त्रों के लिखने तथा कुछ तांत्रिक अनुष्ठानों में केसर का प्रयोग करते हैं। इतना ही नहीं, केसर ने कवियों-कलाकारों आदि पर भी काफी प्रभाव डाला है। महाकवि कालिदास ने अपनी कृति 'मुद्राराक्षस' में केसर का उल्लेख किया है। हर्षवर्धन की रचना 'रत्नावली' में केसर की विशेषताओं का ज़िक्र है।

काश्मीरज ने केवल सम्राटों, कवियों और कलाकारों को ही प्रभावित नहीं किया, अपितु धार्मिक एवं सामाजिक अनुष्ठान भी इससे प्रभावित हुए बिना न रह सके। और तो और, भक्त हृदय ने अपनी आराध्य महाशक्ति जगन्माता को भी 'काश्मीर कुंकुमप्रिया' कहा। कश्मीरी जनमानस में केसर ऐसे घुलमिल गया कि माता-पिताओं ने अपनी प्रिय बहू-बेटियों के नाम तक 'क्वंग' (केसर) तथा 'क्वंगुॅमाल' (केसर-पुष्पहार) रख दिये। इतना ही नहीं, ब्याह-शादियों पर गाए जाने वाले लोक-गीतों में लोक-कवियों ने बेटी को 'केसर गाठ' के नाम से अभिहित किया। बेटी के विवाह के समय उसकी विदा-वेला में वधूपक्ष की स्त्रियाँ वर एवं वरपक्ष को वधू के सौंदर्य एवं उसके सर्वगुण सम्पन्न होने का संकेत 'वनवुन' (ब्याह-शादी पर गाये जाने वाले लोकगीत) की निम्न पंक्तियों से कराती हैं—

व्यति दिच़ क्वंगुॅम्वोॅन्ड ततिनो तछिज़े
कूरहो रॅछिज़्यन लूकुॅहुन्द माल।।

अर्थात्, दूल्हे राजा एवं वरपक्ष जन ! हमने केसर की गाँठ (अपनी सुन्दर तथा सर्वगुणसम्पन्न बिटिया) तुम्हें सौंप दी। घर ले जाकर इसे खुरचना नहीं। पराई सन्तान (हमारी बिटिया) का अच्छी तरह से ध्यान रखना, सावधानी से इसे पालना-पोसना।

कश्मीरी लोक-गीतों में केसर शब्द का प्रयोग सुन्दरता, स्नेह एवं गौरव आदि अर्थों में भी हुआ है। 'निकाहनामा' लिखते समय कश्मीरी मुस्लिम महिलाएँ दुल्हन को उसके माँ-बाप के उसके प्रति स्नेह, उसके अपने सौंदर्य तथा उसके कुल के गरिमामय होने का भान कराते हुए गाती हैं —

निकाह छी लेखान सुॅतुॅरे - सुॅतुॅरे
क्वंगुॅचे पॅतुॅरे तुॅ अॅतुॅरे सूॅत्य।।

अर्थात्, दुल्हनिया री ! तुम्हारे निकाहनामे की एक-एक पंक्ति केसर और इत्र के घोल से लिखी जा रही है।

और भी—

व्यूग ल्यूखूयो क्वंगुॅ तय स्यंदुरे
यन्दराज़स कर नमस्कार।

अर्थात्, (रे दूल्हे !) तुम्हारा व्यूग (एक प्रकार की अल्पना जिसके ऊपर दूल्हा-दुल्हन को खड़ा करके कुछ रसमें पूरी की जाती हैं) केसर और सिन्दूर से बनाया गया है। (अब तुम) इन्द्रदेव को नमन करो।

किसी ललना के रूप-लावण्य को रेखांकित करना हो तो कश्मीरी में मुहावरा है — 'क्वंग तिहिज्य हिश' यानी पुंकेसर (केसर पुष्प के मध्य की डंडियों) सरीखी।

कश्मीर के पाम्पुर नामक स्थान में केसर की खेती कब और कैसे आरम्भ हुई, इस सम्बन्ध में 'राजतरंगिणी' में एक कथा का उल्लेख है। महाराज ललितादित्य के समय (647-736 ई.) में पद्मपुर में एक प्रसिद्ध वैद्य रहते थे। उनका नाम था वाग्भट्ट। एक बार नागराज तक्षक नेत्ररोग से पीड़ित होकर मनुष्य का रूप धारण करके वैद्य वाग्भट्ट के पास इलाज कराने आये। इलाज कराते-कराते काफी समय बीता, पर कुछ लाभ न हुआ। वैद्यराज वाग्भट्ट का मन सन्देह से भर गया; उन्होंने अपने रोगी से उसकी वास्तविकता जाननी चाही। जब वैद्य जी को ज्ञात हुआ कि उनका रोगी वास्तव में एक नाग है तो उन्हें यह समझने में देर न लगी कि तक्षक की आँखों में लगाई गई औषधियाँ उसके मुख से निकलने वाली विषाक्त साँस के कारण ही प्रभावहीन हो जाती हैं। वाग्भट्ट ने तुरन्त तक्षक की आँखों पर पट्टी बाँध दी, ताकि ज़हरीली साँसों से आँखों का बचाव हो सके। तक्षक इस युक्ति से शीघ्र ही ठीक हो गया और उसने अपने वैद्य को केसर की एक गाँठ पुरस्कार स्वरूप दे दी। वाग्भट्ट ने प्याज़ की गाँठ सरीखी इस वस्तु को रोपा और इस प्रकार पद्मपुर में केसर की खेती का श्री गणेश हुआ।

अबुल फ़ज़ल ने अपनी पुस्तक 'आईने-अकबरी' में इस बात का उल्लेख किया है कि पाम्पुर के लोग, केसर की गाँठे रोपने से पहले, 'ज़्यवन' (असली नाम जयवन) नामक गाँव के निकट निर्मल जल से भरे 'तक्षक नाग' नामक एक बड़े कुण्ड की यात्रा करते हैं। आजकल भी अनेक केसर-उत्पादक इस कुण्ड की यात्रा कर श्रद्धापूर्वक नागराज

तक्षक की पूजा-अर्चना करते हैं।

केसर की खेती विशेष प्रकार के करेवों में की जाती है। पाम्पुर के अनेक वयोवृद्ध केसर-उत्पादकों का मानना है कि केसर की खेती के लिए एक विशेष प्रकार की पीली मिट्टी की आवश्यकता होती है जो हमारे देश में पाम्पुर में ही पाई जाती है। पर आधुनिक कृषि वैज्ञानिक कश्मीर घाटी के अन्य

गाँठ सहित केसर का पौधा

स्थानो पर ही नहीं, अपितु हिमाचल तथा उत्तरप्रदेश के कुछ क्षेत्रों में भी केसर उगाने का परीक्षण कर रहे हैं। ताज़ा सूचनाओं के अनुसार इन वैज्ञानिकों को कुछ सफलताएँ भी मिल रही हैं। केसर की खेती के लिए पहले भूमि को 5 × 5 फीट की वर्गाकार क्यारियों में बाँटा जाता है। फिर इसके चारों ओर एक फुट गहरी नाली खोदी जाती है। इन क्यारियों में केसर की गाँठ चार इंच गहरी रोपी जाती है। सिंचाई की कोई खास जरूरत नहीं पड़ती। रोपाई के बाद किसान को अधिक मेहनत करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। न खाद-पानी ही देना पड़ता है। अलबत्ता क्यारियों की गोड़ाई ज़रूर दो-चार बार करनी पड़ती है। गोड़ाई करते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि गाँठों को क्षति न पहुँचे। गाँठों की रोपाई मार्च-अप्रैल में की जाती है।

केसर का पौधा काफी छोटा होता है — करीब छह-सात इंच ऊँचा। इसके पत्ते घास जैसे होते हैं। अक्तूबर के मध्य में केसर के पौधों में फूल उगते हैं, जो दूर से देखने पर कुमुदिनी का आभास देते हैं। छह पंखुरियों (तीन बड़ी और तीन छोटी) वाले ये फूल अत्यंत मनोहर एवं बैंगनी रंग के होते हैं। शरद् काल की कुनकुनी धूप में दूर तक फैले हुए केसर-पुष्पों को हेरते रहना बहुत ही सुखद अनुभव है। कहा जाता है कि कार्तिक पूर्णिमा की जुन्हाई में केसर-पुष्पों से भरे खेतों को निहारते रहने में एक विशेष प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है।

केसर-पुष्पों को चुन-चुन कर धूप में सुखाया जाता है। फिर प्रत्येक पुष्प से तीन डंडियों (पुंकेसरों) को हाथ से अलग किया जाता है। डंडियों का ऊपरी भाग लाल-नारंगी रंग का होता है और निचला भाग श्वेत। पुंकेसर का ऊपरी हिस्सा शाही केसर (शाही ज़ाफ़रान) या असली (शुद्ध) केसर कहलाता है। निचला श्वेत भाग द्वितीय श्रेणी का केसर है जो 'मोगरा' या 'मोगला' कहलाता है।

शाही केसर और मोगरा चुनने के बाद केसर-पुष्पों को छड़ियों से धीरे-धीरे कूटा जाता है और पानी में डाला जाता है। जो हिस्सा पानी में डूब जाए उसे फिर से धूप में सुखा कर कूटा जाता है और पुनः किसी पानी भरे चौड़े बर्तन में डाला जाता है। यह क्रम तीन बार दुहराया जाता है।

पानी में डूबे हुए केसर को 'निवल' कहते हैं। उक्त क्रम को दुहराने-तिहराने से घटिया किस्म की 'निवल' बनती है। पहली बार कूटने-डुबोने से प्राप्त निवल को तीसरी बार प्राप्त निवल से मिलाया जाता है और घटिया किस्म का केसर तैयार किया जाता है, जो 'मोगरा' की अपेक्षा हल्के रंग एवं कम सुगन्ध वाला होता है। इसे 'लच्छा' कहा जाता है। केसर की मिलावट

व सूक्ष्म दृष्टि वाला व्यक्ति ही केसर में की गई इस मिलावट को परख सकने में समर्थ हो सकता है।

माना जाता है कि केसर की गाँठ रोपने पर इससे अधिक से अधिक दस वर्ष तक उपज होती है, लेकिन पाम्पुर के अत्यंत अनुभवी केसर-उत्पादकों का कहना है कि एक बार की रोपी गाँठ से चौदह वर्षों तक केसर प्राप्त किया जा सकता है। होता यह है कि पुरानी गाँठ सड़ जाती है और नई गाँठ अपने-आप पैदा हो जाती है।

केसर की बीज-गाँठों को रोपने के लिए खास तरह की ढलुआँ भूमि की जरूरत होती है। तीन वर्ष बाद बीज-गाँठों को निकाल कर छोटी-छोटी समतल एवं वर्गाकार क्यारियों में रोपा जाता है। केसर की पैदावार बन्द होने पर उन खेतों में आठ वर्षों तक गेहूँ और जौ की खेती होती है।

विदेशों में स्पेन, फ्रांस, सिसली एवं ईरान में केसर की उपज होती है। स्पेन केसर का सबसे बड़ा निर्यातक देश है। वहाँ अरबों ने दसवीं शताब्दी में इसकी खेती आरम्भ की थी। बीच में कुछ समय लोग इसे भूले रहे। क्रूसेडरों ने वहाँ इसका पुनः प्रचलन किया। अंग्रेजी का 'सैफरन' शब्द अरबी के 'ज़ाफरान' शब्द

अठारहवीं शताब्दी तक इंग्लैण्ड की वाल्डन नामक जगह में भी केसर की खेती होती थी। कहते हैं कि केसर की एक गाँठ एक यात्री त्रिपोली से छिपा कर वहाँ लाया था। यह वाल्डन लन्दन से 44 मील दूर है और आजकल भी सैफरन वाल्डन के नाम से जाना जाता है।

केसर के मोहक रंग व सौरभ का कारण है इसमें पाई जाने वाली क्रोसिन, क्रोसिटिन, कैरोटिन, लिकोपिन, ज़ियाक्सैथिन और विक्रोक्रोसीन नामक रासायनिक वस्तुएँ तथा सुगन्धित तेल।

काश्मीरज के साथ एक ऐतिहासिक घटना भी जुड़ी है। यह घटना कश्मीर एवं काश्मीरज की अपूर्व सुषमा को रेखांकित करती है। कहा जाता है कि सिकन्दर ने जब स्वर्गोपम कश्मीर में प्रवेश किया तो उसके सैनिक केसर-सुषमा को देख कर इस कदर मोहित हो गये कि उन्होंने सिकन्दर को कश्मीर पर आक्रमण न करने की सलाह दी। पर अत्यन्त खेद का विषय है कि आजकल कुछ सिरफिरे गुमराह युवक कुछ स्वार्थांध शक्तियों की कठपुतलियाँ बनकर काश्मीरज ही नहीं, कश्मीर की परम्परा, अनुपम सुषमा, आत्मा एवं कश्मीरियत को ही भस्म करने पर तुले हुए हैं।

अमरनाथ

कश्मीर प्राचीन काल से ही भगवान आशुतोष का आलय माना जाता रहा है। कश्मीरी ब्राह्मण शिव के परम भक्त रहे हैं। शैव-दर्शन या त्रिक दर्शन का जन्म यहीं हुआ है। परम शिव ने भी दया कर हिमलिंग के रूप में प्रकट होने का इसी भू-भाग को सौभाग्य प्रदान किया है। भगवान महादेव कश्मीर के जिस स्थान से हिम-लिंग के रूप में प्रकट होते हैं, उसे आजकल अमरनाथ का नाम दिया गया है। अमरनाथ का वास्तविक या प्राचीन नाम अमरेश्वर है। इस बात की गवाही कल्हण की सुविख्यात कृति 'राजतरंगिणी' तथा 'नीलमत्पुराण' देते हैं।

श्री अमरेश्वर के दर्शनों का सौभाग्य श्रद्धालुजन कब से प्राप्त करते आ रहे हैं, इस सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से कहना कठिन है; हाँ, 'राजतरंगिणी' के अनुसार राजा सन्धिमान (34 ई. पू. से 16 ई. पू.) हिमलिंग की पूजा करते थे। इस तथ्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राजा सन्धिमान से पहले भी श्रद्धालुजन अमरेश्वर की पूजा के लिए अमरेश्वर की यात्रा करते रहे होंगे।

अमरेश्वर या अमरनाथ नगरों, जनपदों तथा ग्रामों की गहमागहमी एवं कोलाहल से बहुत दूर ऊँचे-ऊँचे हिम ढँके शिखरों तथा प्रकृति की अनन्त सुषमा के मध्य स्थित है। यहाँ कोई छोटा या बड़ा मन्दिर नहीं, एक विशाल गुफा है जो समुद्रतल से 3800 मीटर की ऊँचाई पर है। गुफा का मुहाना लगभग 50 फीट ऊँचा, 52-53 फीट चौड़ा तथा 49-49.5 फीट के करीब गहरा है। इसी गुफा के अन्दर प्रति वर्ष श्रावण पूर्णिमा के पावन पर्व पर अखिल ब्रह्माण्ड का शुभ चाहने व कल्याण करने वाली हिमलिंग स्वरूप शक्ति का पूर्ण प्रादुर्भाव होता है।

गुफा के अन्दर इसकी छत से पानी की बूँदें टपकती रहती हैं, पर एक निश्चित स्थान पर टपकने वाली वह बूँदें ही जमते-जमते हिमलिंग का आकार धारण करती जाती हैं। आश्चर्य यह कि चन्द्र-कलाओं के घटने-बढ़ने के साथ-साथ हिमलिंग भी घटता-बढ़ता जाता है। श्रावण पूर्णिमा को हिमलिंग, किसी-किसी वर्ष पार्वती तथा गणेश की प्रतीक मूर्तियाँ भी, पूर्णत्व पाता है। इसके पश्चात कृष्ण पक्ष में अमावस्या तक घटते-घटते लिंग पूर्णतया: अंतर्धान हो जाता है।

श्री अमरनाथ के पावन स्थल पर ऊँची-ऊँची हिमधवल चोटियाँ, अत्यन्त शीतल झरने, हड्डियों में धँसने वाली हवा, बड़ी-बड़ी चट्टानें, तंग घाटियाँ और इन सबमें व्याप्त विराट सन्नाटे की शून्यता; पर दर्शन के दिन सभी यात्रियों को चमत्कृत करता है कबूतरों का एक जोड़ा। कहाँ से आता है? कैसे रहता है? क्या खाता है? ये प्रश्न आज तक अनुत्तरित रहे हैं। एक मान्यता है कि ये भगवान शंकर के सेवक हैं जो कबूतरों के रूप में श्रद्धालुओं को दर्शन देते हैं। दूसरी मान्यता है कि स्वयं भगवान शिव और पार्वती ही अपने भक्तों को कपोत युगल के रूप में दर्शन देते हैं। यात्री इन अलौकिक कबूतरों के दर्शनों से अपार आनन्द का अनुभव कर अपने भाग्य को सराहते हुए अपनी यात्रा को सफल हुआ समझते हैं।

श्रद्धालु यात्रियों के साथ देश-विदेश के अनेक वैज्ञानिक भी हिमलिंग एवं कबूतरों के रहस्य को जानने के लिए आते रहे हैं। पर आज तक कोई विज्ञानवेत्ता सन्तोषजनक रूप से इस दैवी रहस्य को समझा सकने में समर्थ नहीं हुआ।

अमरनाथ में हिमलिंग के प्रकट होने के सम्बन्ध में एक पौराणिक आख्यान है कि जब सम्पूर्ण सृष्टि परमशिव में विलीन हो चुकी थी, तब परम शिव के मन में पुन: सृजन की इच्छा तरंगित हुई। इसके बाद प्रकृति का प्रादुर्भाव हुआ। प्रकृति से ही इस जगत की उत्पत्ति हुई जो पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश, यानी पंच महाभूतों से बना। इसी के साथ विभिन्न जीवों का जन्म हुआ। जीवन के साथ मृत्यु भी अस्तित्व में आई। मृत्यु या महाकाल देवताओं तक को भयभीत करने लगा। भयाकुल देवता परम शिव की शरण में आये। प्रार्थना की — हे देवादि देव महादेव! हमें मृत्यु-भय से उभारिए। परम शिव देवताओं पर प्रसन्न हुए, मस्तक के दैदीप्यमान चन्द्रमा को हाथों में लिया। उसे निचोड़ा। निचोड़ने से अमृतधारा बह निकली। देवताओं ने अमृतपान किया और अमर हो गये। अमृत की जो बूँदें नीचे गिरीं उन्हीं से अमरेश्वर की अमर गंगा या अमरावती नदी बनी। देवताओं को अमृतपान कराने के बाद परम शिव ने हिमलिंग का रूप धारण किया। देवताओं ने जहाँ परम शिव के दर्शन किये थे, आजकल भी उसी स्थान पर परम शिव हिमलिंग के रूप में प्रकट होते हैं। देवगण यहीं पर अमृतपान कर अमर हुए थे, अत: इस पवित्रतम स्थल का नाम अमरेश्वर या अमरनाथ

प्रसिद्ध हुआ।

अमरत्व की इच्छा रखने वाले इस यात्रा से आत्मा के अमर होने का अनुभव प्राप्त कर अमरत्व पा जाते हैं।

कहा जाता है कि कुछ समय तक लोग अमरेश्वर की यात्रा पर नहीं गये। सम्भवत: इस काल में प्राकृतिक प्रकोपों के कारण यात्रा करना असम्भव रहा होगा और कालान्तर में लोग उसे बिल्कुल विस्मृत कर चुके होंगे; पर कुछ समय के पश्चात यात्रा का पुन: प्रचलन हुआ।

यात्रा के पुनरारम्भ के साथ एक दिलचस्प घटना जुड़ी हुई है। मट्टन (मार्त्तण्ड) नामक स्थान के कश्मीरी मुसलमानों के मल्लिक परिवार का एक पूर्वज पंचतरणी और इसके आसपास भेड़ों के रेवड़ चराता था। एक शाम मल्लिक ने पाया कि कुछ भेड़ें रेवड़ में सम्मिलित नहीं हैं। उसे चिन्ता हुई। वह भेड़ों की तलाश में निकला। भेड़ों की तलाश करता हुआ वह अमरेश्वर गुफा तक जा पहुँचा। भेड़ों को तलाशने की गरज़ से गुफा के अन्दर भी गया। गुफा में जाकर उसने हिमलिंग तथा कबूतरों का जोड़ा देखा। इन्हें देख वह आश्चर्यचकित हुआ। जब वह मट्टन लौटा तो गुफा, हिमलिंग तथा कबूतरों की चर्चा मट्टन के पण्डितों से की। पण्डितों ने अपने पूर्वजों से अमरेश्वर के विषय में सुन रखा था, पर इन्हें इस अपूर्व पवित्र स्थल तक पहुँचने का मार्ग ज्ञात न था। कई पण्डित मल्लिक को पथप्रदर्शक बना कर अमरेश्वर की गुफा तक जा पहुँचे। लौट कर अन्य हिन्दुओं के साथ चर्चा की। बात फैल गई और श्री अमरनाथ जी की यात्रा पुन: प्रारम्भ हुई।

श्री अमरनाथ जी की यात्रा का शुभारम्भ श्रावण शुक्ल चतुर्थी को होता है। इसी दिन श्रीनगर के दशनामी अखाड़े में पवित्र छड़ी की पूजा होती है और साधु-संन्यासी एवं अन्य इच्छुक व्यक्ति पैदल यात्रा पर चल पड़ते हैं। पवित्र छड़ी की अगुवाई में यात्रियों का दल शाम को पाम्पुर (पद्मपुर) पहुँच जाता है। दूसरे दिन बिजबिहाड़ा (विजयेश्वर); तथा इसी प्रकार एक-एक दिन मट्ट (मार्तण्ड) और ऐशमुकाम होता हुआ पहलगाँव पहुँच जाता है। यह दल पहलगाँव पहुँच कर अपने आपको पहाड़ी सफर के निमित्त तैयार करने के लिए दो-चार दिन यहीं रुकता है। तब तक यात्रियों के अन्य दल भी बसों द्वारा पहलगाँव आ जाते हैं। श्रावण शुक्ल द्वादशी को पूरा का पूरा कारवाँ, जिसमें यात्री, सरकारी कर्मचारी, व्यापारी, स्वयं-सेवक, कुल्ली, टट्टू एवं टट्टू वाले, पालकियाँ एवं उनके कहार इत्यादि चन्दनबाड़ी की ओर चल पड़ते हैं।

पहलगाँव से चन्दनबाड़ी तक हल्की-हल्की चढ़ाई है। चढ़ाई चढ़ कर एक समतल हरे-भरे भूखण्ड पर पहुँच जाते हैं, जिसकी उतराई में स्वच्छ कल-कल करती सरिताएँ नृत्यरत हैं। यही चन्दनबाड़ी है। यहाँ रात्रि विश्राम के लिए रुका जाता है। अगला पड़ाव है वावजन (वायुवर्जन)। इस पड़ाव तक पहुँचने के लिए 3700 मीटर ऊँचे पिस्सू पर्वत को पार करना पड़ता है। इस पर्वत की उठान खड़ी और घुमावदार है, जिससे अच्छे-अच्छों के अंग-प्रत्यंग चूर-चूर हो जाते हैं और साँस फूल जाती है। त्रयोदशी की रात वावजन में ही गुज़ारी जाती है। यहीं पर शेषनाग (या शिशरम नाग) का पवित्र सरोवर भी है। यह सरोवर चारों ओर से हिम ढँके पर्वतों से घिरा है। इस सरोवर तथा इसकी पृष्ठभूमि के दर्शन मात्र से यात्रियों की सारी थकान काफूर हो जाती है। चतुर्दशी को यात्री बहुत सवेरे पंचतरणी की ओर प्रस्थान करते हैं। पंचतरणी पहुँचने के लिए यात्रियों को 6100 मीटर ऊँचे 'महागुनस' नामक पर्वत को पार करना पड़ता है। महागुनस की चढ़ाई पिस्सू की चढ़ाई की अपेक्षा आसान है, पर इस पर उगी जड़ी-बूटियों की गन्ध से कई यात्री मूर्च्छित हो जाते हैं। महागुनस को पार कर प्रकृति के ऐसे सौंदर्य से साक्षात्कार होता है, जिसे एकटक देखते रहने को मन करता है।

पंचतरणी में पाँच सरिताएँ हैं, जिन्हें यात्रियों को पार करना पड़ता है। इन सरिताओं में पवित्र गंगा-जल प्रवाहित है। एक आख्यान है कि जब भगवान शंकर ताण्डव नृत्य कर रहे थे, तो नाचते-नाचते उनकी जटाएँ पाँच भागों में विभाजित हो गईं। इन्हीं पाँच जटा भागों से गंगाधर की गंगा का जल पृथ्वी पर प्रवाहित होने लगा और पंचतरणी की पाँच सरिताएँ बन गईं।

पूर्णिमा को तड़के ही यात्री स्नान-ध्यान एवं पवित्र छड़ी की पूजा कर गुफा की ओर सोत्साह बढ़ते हैं। इन्हें कठिन चढ़ाई, अत्यधिक ठण्ड, जमे बर्फ की चमक तथा तंग रास्ते की तकलीफ ज़रा भी विचलित नहीं कर पाती। 'अमरनाथ स्वामी की जय! हर-हर महादेव !! जय पार्वती पते!!!' आदि का जयघोष करते हुए ये गुफा के निकट पहुँच जाते हैं। तनिक विश्राम के पश्चात अमर गंगा के जम रहे जल से स्नान कर परम शिव के दरबार में उपस्थित हो जाते हैं। भगवान की पूजा-अर्चना कर अमर विभूति (चूना मिट्टी) माथे पर लगाते हैं और परमानन्द का अनुभव करते हैं।

कश्मीरी के शीर्षस्थ भक्त कवि परमानन्द ने 'अमरनाथ यात्रा'' शीर्षक से एक लम्बी कविता रची है। इस कविता में अमरनाथ यात्रा के विभिन्न पड़ावों तथा षड्चक्रोपासना के विभिन्न चक्रों एवं इनके देवताओं में समन्वय बिठाते हुए सर्वोच्च ज्ञान, वैराग्य तथा साधक और साध्य की अद्वैतता का प्रतिपादन

करते हुए कवि कहता है—

मनथुॅर पर शेवुॅ शम्बू
मनथ्यर कर पूजुन प्रबू

त्राहिमाम पर यात्रा चु कर
हरुम्वोॅख पनुॅनुय पान वर
ग्वोॅफ म्यॉन्य यि ग्वोफ बरावर

ब्रह्मा सु युस सृष्टिकरतार
स्वाद्यशठानुॅ शुराहयार
शठदल शठम्वखुॅ ज़न कुमार

ईशिदीशि व्वत्यम शीशिनाग
ह्यकुॅखय चुॅन्यति द्यन तुॅ राथ ज़ाग
रागत्राव प्राव परमुॅ वॉराग

बावुॅ अमरावतिये चुॅ नाव
मल बबूत छल ग्रहस्तबाव
शेवुॅ पादन पान पूशिराव

शेवुशरव्ती अख नामुॅरूपु ब्योॅन
पानुॅ बोज़ मानि क्याह नोॅन वॅनुन
परमानन्द पानस बनुन
मनथ्वर कर पूज़ुन प्रबू।

अर्थात्, हे यात्री (या साधक) अपने मन को हर प्रकार से स्थिर कर 'शिव-शम्भू' मंत्र का जाप करते हुए प्रभु की अर्चना कर।

प्रभु से उभारने की प्रार्थना करते हुए 'त्राहिमाम' कहते हुए अमरेश्वर की यात्रा का आरम्भ कर। जिन पर्वतों को पार करते हुए तुम्हें अमरेश्वर की गुफा में जाना है, उन पर्वतों को अपना शरीर ही जान और यह भी समझ ले कि वह गुफा (जिसमें हिमलिंग है) और मेरी यह गुफा (मेरा मन) समान है।

स्वादिष्ठान नामक चक्र में जो सृष्टिकर्ता ब्रह्मा विराजमान है वे ही मानो 'शुराहयार' (वितस्ता तट पर बना एक प्राचीन मन्दिर जहाँ यात्रियों का जाना अनिवार्य था) में है और षट्दल पद्म मानो षण्मुख कुमार हैं।

उत्तम शेषनाग में स्वयं प्रभु का निवास है, यही प्रभु का देश है, सके तो यहाँ रात-दिन जाग्रत अवस्था में रह। संसार की मोह-माया त्यागे और परम वैराग्य से नाता जोड़।

बड़ी भावना एवं श्रद्धा से अमरावती यानी अमरगंगा में स्नान कर। तत्पश्चात यहाँ की अमरविभूति सारे शरीर पर मल और गृहस्थ भाव, अपनों की चिन्ता, स्नेह, लगाव आदि, त्याग दे और सम्पूर्ण रूप से शिव-चरणों को अर्पित हो जा।

शिव और शक्ति का नाम और रूप यद्यपि भिन्न हैं, पर वास्तव में ये एक ही हैं। स्वयं ही इस का अर्थ आत्मसात कर ले। सुस्पष्ट करने में उतना महत्त्व नहीं है, जितना स्वयं जानने में अर्थात् स्वयं अनुभव करने में। अनुभव करने से ही परमानन्द की प्राप्ति होती है—भक्त भगवान में विलीन हो जाता है। हे साधक! (या यात्री) मन को स्थिर कर प्रभु की पूजा कर।

संदर्भ

1. देखिए, 'परमानन्द' (प्रथम भाग) {कश्मीरी} पृष्ठ 75, चयन : प्रोफेसर जे. लाल कौल तथा मोतीलाल साकी, प्रकाशक : जम्मू-कश्मीर कल्चरल अकादमी, श्रीनगर।

चिनार

हिम ढँके पर्वत–शिखर, कल–कल करते झरने, निर्मल जल की झीलें, चीड़–देवदार के सघन वन, नन्दन–कानन से होड़ लेने वाले उद्यान, कमल और केसर की महक लिये शीतल मन्द समीर जिस प्रकार कश्मीर की मनोहरता में चार चाँद लगाते हैं, उसी प्रकार ऊँचे, विशाल–सघन चिनार भी भू–स्वर्ग की छटा को निखारने में किसी से पीछे नहीं। 'चिनार' फ़ारसी शब्द है। स्पष्ट है कि यह शब्द कश्मीर में मुस्लिम शासन–काल में प्रचलित हुआ होगा। इस सन्दर्भ में कश्मीर में एक जनश्रुति भी प्रचलित है। कहा जाता है कि कोई बादशाह किसी मैदानी इलाके से कश्मीर घोड़े पर सवार होकर आ रहा था। शरद काल था। कश्मीर में चिनारों के पत्ते लाल–सुर्ख हो गये थे। इस बादशाह ने जब दूर से लाल हुए चिनारों की एक कतार को देखा तो अचानक अपने मुख्य सेवक से चिनार की पंक्ति की ओर इंगित करते हुए पूछ बैठा 'ईं चिनार ?' अर्थात यह कौन–सी आग है ? कहा जाता है कि तभी से इस वृक्ष विशेष का नाम 'चिनार' प्रचलित हुआ।

चिनार का कश्मीरी पर्याय 'बून्र' है। कई विद्वानों का मत है कि 'बून्र' शब्द 'भवानी' शब्द का बिगड़ा रूप है। उनके मतानुसार चिनार का प्राचीन नाम भवानी ही था। मुझे लगता है कि कश्मीरी शब्द 'बून्र' हिन्दी शब्द 'बुइन' (देशज) का ही कश्मीरीकरण है। हिन्दी के अनेक स्तरीय शब्दकोशों में 'बुइन' शब्द का अर्थ चिनार दिया हुआ है। बुइन → बून्र या चिनार का वनस्पतिशास्त्रीय नाम 'पलाटानस ओरिएंनटालिस' है।

एक मत (या कहें लम्बे समय से एक संकुचित उद्देश्य के लिए षड्यंत्र रचने वाला वर्ग) है कि चिनार को कश्मीर में लाने का श्रेय मुग़ल बादशाहों को है। पर 'तुज़कि जहाँगीरी' में स्वयं जहाँगीर लिखते हैं : "रावलपोर नामक गाँव में, जो श्रीनगर से हिन्दोस्तान जाने वाले मार्ग पर ढाई कोस की दूरी पर स्थित है, एक चिनार है, जिसका तना अन्दर से जला हुआ है। ... मैं स्वयं घोड़े पर सवार था, मेरे साथ पाँच घोड़े और दो ख्वाजा सराह भी थे। हम इस (चिनार के) खोखल में घुस गये।" इसी प्रकार 'अकबरनामा' में लिखा है : "मेरे पिताजी ने चौंतीस व्यक्ति इस चिनार (के खोखल) में घुसा दिये।" इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि मुग़लों के कश्मीर में आने से बहुत पहले कश्मीर में चिनार थे; तभी तो इनके तने एवं तनों में हुए खोखल इतने विशाल थे कि इनमें अनेक लोग आसानी से घुस सकते थे। कश्मीर के एक जाने–माने कवि–लेखक और अन्वेषक श्री मोतीलाल साक़ी का इस बारे में कहना है : "(इस) अतिथिप्रिय पेड़ का ज़िक्र 'राजाओं की नदी' (राजतरंगिणी) में किसी जगह भी सविस्तार मौजूद नहीं है। परन्तु कल्हण के समय में चिनार था अवश्य। वे इसका उल्लेख करना भूल गये, शायद चिनार की मीठी, सुखद बयारों के प्रमादवश ! चिनार कश्मीर का अपना वृक्ष है। यह आलीशान पादप इसी धरती की कोख में पैदा होकर इसी की गोद में पला–बढ़ा है।"

चिनार की सघन–सुखद छाँह में राहत पाने के लिए असंख्य जन इसकी शरण में आते हैं। यदि कहा जाए कि चिनार की सुखद छाया माँ की गोद–सी मधुर, ममतालु और वत्सल होती है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। ग्रीष्मकाल में मैदानों की झुलसती लुओं द्वारा सताये गये अनेक पर्यटक चिनार की शीतल छाँह में एक सुकोमल–स्नेह सना सुख पाते हैं। किसी थके, घाम–पीड़ित पंथी के लिए, चिनार के हाथ सरीखे पत्तों की जुम्बिश और मीठी मर्मर ध्वनि ममतामयी थपकी और रसभीगी लोरियों के आनन्द से कम नहीं होती।

चिनार एक क़द्दावर एवं चौड़ा शानदार वृक्ष है। इसका तना काफी मोटा होता है। कहा जाता है कि छह–सात साल के अन्दर चिनार की ऊँचाई सत्तर फीट तक पहुँच जाती है। कश्मीर के चिनारों के तने का घेरा सामान्यतया तैंतीस फीट और ऊँचाई सौ फुट तक पाई गई है! चिनार के टहनें मोटे और काफी फैले होते हैं। इन टहनों की मोटी और छोटी–छोटी टहनियाँ इस प्रकार गुम्फित व पत्तों से लदी–ढँकी होरी हैं, कि यह शानदार वृक्ष एक विशाल छत्र–सा लगता है। इस वृक्ष के पत्ते चौड़े और आकार में हाथ–सरीखे होते हैं। ये पत्ते अगस्त–सितम्बर के महीनों में लाल होकर, पीले पड़ने आरम्भ होते हैं। फिर बादामी रंग के होकर नवम्बर–दिसम्बर में झड़ जाते हैं। ऊँचे–विशाल चिनारों के लाल–लाल पत्ते एक अनोखे, दिव्य एवं रहस्यमय वातावरण की सृष्टि करते हैं। स्वर्गीया प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी को यह वातावरण बहुत अच्छा लगता था। अपने अतिव्यस्त जीवन से कुछ क्षण चुरा कर वे कभी–कभी दहकते चिनारों को देखने कश्मीर अवश्य आती थीं। उन्होंने अपनी अन्तिम कश्मीर–यात्रा के समय पत्रकारों से कहा था — "मैं इस बार,

घाटी में हेमन्तकालीन, झड़ते सुर्ख चिनार के पत्ते देखने आई हूँ।"

वैसे कश्मीर में हर सौ गज़ पर चिनार के पेड़ हैं, पर घाटी में ये प्रायः झीलों, नदियों और सड़कों के किनारों पर पाये जाते हैं। चिनारों के प्रमुख एवं प्रसिद्ध बाग़ नसीम, विजयेश्वर (आज का बिजबिहाड़ा), नारायण बाग़ (शादीपुर से सटा), आदि हैं। चिनार कश्मीर घाटी के उद्यानों, मन्दिरों, मस्जिदों, स्कूलों तथा कॉलेजों के परिसरों में भी पाये जाते हैं। विश्व-प्रसिद्ध डल झील के दो लघु द्वीप 'स्वर्नुॅलॉंक' (स्वर्ण लंका) तथा 'वोंपुॅलॉंक' (रजत लंका) अपने शानदार चिनारों के कारण ही पर्यटकों एवं स्थानीय लोगों के आकर्षण का केन्द्र हैं।

डल झील के किनारे पर सन् 1635 ई. में अकबर बादशाह ने एक चिनार-उद्यान लगवाया। कहा जाता है कि इस उद्यान में बारह सौ चिनार लगवाये गये थे। अब इस बाग़ का नाम 'नसीम बाग़' है। विजयेश्वर का चिनारोद्यान दाराशिकोह का लगवाया बताया जाता है। इस उद्यान में सबसे अधिक आयु के चिनार के तने का घेरा बावन फुट बताया जाता है। पर यह चिनार अब कालकवलित हो गया है। शादीपुर के निकट, सिध नाले के किनारे का चिनार-उद्यान किसी नारायण नामक व्यक्ति का लगवाया लगता है। इसी कारण इस उद्यान का नाम नारायण बाग़ (अब नारानबाग़) पड़ा लगता है।

चिनार शीतोष्ण जलवायु में विकास पाता है। इसकी क़लम भी लगती है और बीज भी। रोपने के बाद, चार-पाँच वर्षों तक इसकी काफी देख-रेख करनी पड़ती है। पर इस अवधि के बाद, इसकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देना पड़ता। कई ऊष्ण जलवायु वाले क्षेत्रों में भी चिनार के वृक्ष लगाये गये हैं। पर यहाँ ये उतने पनप नहीं पाये हैं जितने कि शीतोष्ण जलवायु वाले क्षेत्रों में पनपते। जम्मू शहर में कई स्थानों, जैसे आकाशवाणी जम्मू परिसर, श्री रणवीरेश्वर मन्दिर परिसर तथा गांधीनगर आदि पर चिनार लगाये गये हैं, परन्तु इनकी बढ़वार उतनी नहीं हो पाई है जितनी कि इतने ही समय में श्रीनगर या घाटी के अन्य भागों में हो पाती। तेज़ हवाओं वाले क्षेत्रों में भी चिनार अच्छी तरह से पनप नहीं पाता। पाला पड़ने पर, इस वृक्ष की कोई खास क्षति नहीं होती।

अपने उत्तरकाशी (गढ़वाल, उ. प्र.) प्रवास के दौरान मेरी मुलाक़ात भारत-तिब्बत सीमा पुलिस के एक वरिष्ठ अधिकारी श्री बरुआ से हुई। श्री बरुआ ने श्रीनगर (कश्मीर) से चिनार की क़लमें लाकर उत्तरकाशी के महिडाँड़ा नामक स्थान पर लगवाईं और स्वयं बहुत ही रुचि के साथ इनकी देखरेख करने लगे। एक-दो वर्षों में ही इन क़लमों की आशातीत बढ़वार हुई। इन चिनारों को देखने के लिए मैं प्रायः अपने लदाड़ी स्थित आवास से महिडाँड़ा जाया करता था। मेरी प्रबल इच्छा थी कि मैं भागीरथी के किनारे स्थित बाराहाट (उत्तरकाशी) के स्व. गोबिन्द वल्लभ पंत की स्मृति को समर्पित उद्यान में चिनार की दो क़लमें लगाऊँ, पर उत्तरकाशी में 1991 के प्रलयंकारी भूकम्प ने यह इच्छा पूरी न होने दी। मैं वहाँ से अपना स्थानान्तरण करा के जम्मू आ गया।

नवम्बर-दिसम्बर में चिनार के पत्ते झड़ जाते हैं और पूरे शीत काल में चिनार निर्वसन ही रहता है। इसकी टहनियों में अप्रैल-मई में नये पत्ते लगने आरम्भ हो जाते हैं। कश्मीर में यह बात बहुत प्रचलित है कि जब चिनार के नये पत्ते हंसों-जितने बड़े हो जाते हैं तो इनसे गुज़र कर आने वाली हवा क्षय रोग को समाप्त करती है। हंस के पंजे-जितना आकार पाने पर सम्भवतः चिनार के पत्ते अधिक प्राणवायु छोड़ते होंगे, इसी कारण कश्मीर में उक्त बात प्रचलित होगी। बहुत कम लोग जानते होंगे कि चिनार में भी फूल लगते हैं। ये फूल इतने छोटे होते हैं कि लोग इनके अस्तित्व का नोटिस ही नहीं लेते। ये शताधिक नन्हे-नन्हे फूल मिलकर एक छोटी-सी गोली का रूप धारण करते हैं। ऐसी ही दो से छह तक गोलियाँ एक छोटी, पतली नाजुक-सी टहनी से गुच्छों के रूप में लगी होती हैं। वनस्पतिशास्त्रियों के कथनानुसार नर तथा मादा फूल, अलग-अलग गुच्छों में अलग-अलग टहनियों में लटके होते हैं। इन नर तथा मादा फूलों का रंग क्रमशः पीला तथा हरा होता है। मादा पुष्प-गुच्छों की अपेक्षा नर पुष्पों का गुच्छा अधिक सुकुमार होता है। नर फूलों के गुच्छे बसन्त में जल्दी झड़ जाते हैं, पर मादा फूलों के गुच्छे वृक्ष के साथ अधिक समय के लिए रहकर बीज तैयार करते हैं। चिनार के बीज बहुत हल्के और छोटे-छोटे होते हैं। चिनार के फल जून-जुलाई में पकते हैं। ये फल काफी देर तक वृक्षों पर लगे रहते हैं।

कश्मीरियों के जीवन, भाषा एवं कला पर चिनार का काफी गहरा प्रभाव है। 'बून्ज़' यानी चिनार की सुन्दरता, शीतलता एवं विशालता आदि के कारण कश्मीरियों ने अपनी कन्याओं के नाम 'बोन्यिमाल' तथा 'बून्यद्यद' रखे होंगे। कश्मीरियों ने अंगनाओं के नाम ही नहीं अपितु कई स्थानों के नाम भी चिनार के नाम पर रखे हैं। उदाहरणार्थ, कश्मीर के कई स्थानों के नाम देखिए — बोन्यिबाग, चारचिनॉर्य तथा हफ्तचिनार आदि। कश्मीरी की आदि कवयित्री महायोगिनी लल्लेश्वरी से लेकर आजकल तक के कश्मीरी कवियों तक को चिनार ने बेइन्तिहा प्रभावित किया है। लल्लेश्वरी ने अपने एक 'वाख' में पत्नी को चिनार की शीतल-सुखद छाँह के समान माना है। देखिए —

केंचन येंत्र छय शिहिज्य बूञी
न्यबर नेरौ शुहुल करौ।

अर्थात्, कइयों की पत्नियाँ शीतल चिनार-सी हैं। बाहर आएँ कि इसकी सघन छाया तले राहत पाएँ।

उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि डॉक्टर मुहम्मद इक़बाल की चिनार के सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

जिस ख़ाक के ज़मीर में हो आतशे-चिनार,
मुमकिन नहीं कि सर्द हो वह ख़ाक अरजमन्द।

फ़ारसी कवि खज़र ख़ान कहते हैं —

निगारे आचिना दस्ते चिनार अस्त,
कि कोई दस्ते परवरदश बहार अस्त।

कश्मीर के (अब विस्थापित) हिन्दी कवियों की कविताओं में चिनार ने महत्त्वपूर्ण स्थान पाया है। पृथ्वीनाथ मधुप के कविता संग्रह 'बबूल के साये में मोगरा' की 'षड्यन्त्र' शीर्षक कविता देखिए—

बहुत उदास है / चिनार की घनी छाया।
पत्ते षड्यन्त्र रच रहे / जड़ों को उखाड़ने का।

डॉ. अग्निशेखर के काव्य संकलन 'किसी भी समय' में 'चिनार : पाँच कविताएँ' संकलित हैं। इनमें से एक कविता की पंक्तियाँ हैं—

सदियों से / हम उखड़ कर अपनी ज़मीन से / पर्वतों के उस तरफ / जा बसते हैं। धीरे-धीरे भूल जाते हुए अपना मुहल्ला / दुकानदार / गली में फिर रहे अलसाये खजियल कुत्ते / पगुराती गाएँ इत्यादि / परन्तु नहीं निकल पाते हम / चिनार की सोंधी स्मृति से / इंच-भर भी बाहर . . .

महाराज कृष्ण संतोषी कृत 'बर्फ पर नंगे पाँव' की 'एक विस्थापित गर्भवती स्त्री' शीर्षक कविता में गर्भवती स्त्री अपने होने वाले बच्चे से कहती है —

"' मैंने माँगा तुम्हारे लिए मेरे बच्चे
"' चिनार से उसका क़द

इसी प्रकार कश्मीर के हस्तशिल्प पर भी चिनार छाया हुआ है। यहाँ के विश्वप्रसिद्ध शॉलों पर चिनार के पत्ते काढ़े जाते हैं, जिससे शॉलों की खूबसूरती में चार चाँद लग जाते हैं। चिनार के पत्तों के डिज़ाइन वाले शॉलों का नाम ही 'चिनारदोर' रखा गया है। लकड़ी की खूबसूरत वस्तुएँ बनाने वाले, कालीन और नमदे बनाने वाले एवं पेपरमॉशी आदि का काम करने वाले कारीगर अपने-अपने हाथ से बनाई हुई वस्तुओं पर बड़े चाव और फख्र से चिनार के पत्तों को उकेरते, बुनते-काढ़ते और चित्रित करते हैं।

कश्मीरी भाषा में चिनार से प्रभावित कई मुहावरे विद्यमान हैं। कोई कठिन काम करना हो तो प्राय: कहा जाता है 'यि गव बोञि मुहुल तारुन'।

इसी प्रकार किसी के अत्यधिक मोटापे को रेखांकित करने के लिए मुहावरा है 'बोञि ग्वॅड़ ह्यू' (यानी चिनार के तने सरीखा)।

जीवित चिनार तो परिवेश और जलवायु को सुन्दरता व मनोहरता प्रदान करता ही है, साथ ही कवियों-कलाकारों को भी प्रेरणा देता है; पर चिनार निष्प्राण होने पर भी मानव मात्र की सेवा नहीं त्यागता। इसकी लकड़ी से बहुत ही अच्छा प्लाईवुड बनता है। इसकी लकड़ी से बहुत सुन्दर तथा टिकाऊ मेज़-कुर्सियाँ बनाई जाती हैं। चिनार की लकड़ी ईंधन का काम भी देती है। इसकी लकड़ी ही नहीं, पत्ते भी काम के होते हैं। चिनार के पत्ते नवम्बर-दिसम्बर में जब शाखों से झड़ जाते हैं तो ये करारे बादामी रंग के पत्ते हज़ारों लोगों को शीतकालीन जानलेवा ठण्ड से बचाते हैं। झड़े हुए सूखे पत्तों को एकत्रित कर, आग लगा कोयले बनाये जाते हैं। चिनार के पत्तों के कोयलों से भरी हुई काँगड़ी जाड़ों में किसी भी कश्मीरी के लिए वातानुकूलित कक्ष में बैठ कर पाये गये सुख से कम नहीं होती।

हालाँकि कश्मीर में चिनार को सरकारी संरक्षण प्राप्त है, फिर भी चिनारों की संख्या में दिन-प्रति-दिन कमी आती जा रही है। यह काफी चिन्ता का विषय है। इस बात पर सरकारी और ग़ैर-सरकारी एजेन्सियों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए तथा चिनारों को निष्प्राण न होने देने, इनकी संख्या में वृद्धि एवं विकास की ओर समय रहते समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए।

कश्मीर में चिनार को भी आतंकियों के क़हर का शिकार होना पड़ रहा है। जम्मू-कश्मीर के एकमात्र हिन्दी दैनिक 'दैनिक कश्मीर टाइम्स' के 12.7.93 के अंक में छपी रशीद अमद की रिपोर्ट के अनुसार दिसम्बर 89 से कम से कम जितने चिनार बिना सोचे-समझे काटे गये, उनकी संख्या 6,400 के करीब है। चिनारों की यह बरबादी, काटे गये चिनारों की संख्या को दृष्टिगत रखते हुए, सबसे अधिक अनन्तनाग तथा पुलवामा ज़िलों में हुई। इसके पश्चात दूसरा स्थान बारामुला तथा कुपवाड़ा जिलों का है तथा तीसरा स्थान श्रीनगर ज़िले का है। उक्त रिपोर्ट के अनुसार अनन्तनाग और पुलवाना में 4,000 चिनारों को आतंकियों की कुल्हाड़ी ने भूमिसात किया। इतना ही नहीं, आतंकियों की अविवेकपूर्ण हरकतों ने 8,000 चिनारों को निष्प्राण ढूँठों में परिवर्तित कर दिया है और दस हज़ार और चिनार अपनी अन्तिम साँसें ले रहे हैं।

रशीद अहमद लिखते हैं — "ग्रामीण इलाकों में जहाँ चिनारों की रक्षा का काम राजस्व विभाग की देख-रेख में है, वहाँ भी कुल मिला कर स्थिति बदतर है। सड़क के किनारे गाँवों या चरागाहों में अकेले खड़े चिनार तस्करों और राजस्व विभाग की मिली-भगत के शिकार बनते जा रहे हैं। ... घने और काफी संख्या में खड़े चिनार अब नज़र नहीं आते, टूरिस्ट सेंटर, टी. वी. सेंटर, एम्पोरियम बाग़ का बाहरी हिस्सा, बटमालू कमरवाड़ी में चिनार बिल्कुल साफ कर दिये गये हैं। हफ्तचिनार (सात चिनार) अब आवासीय क्षेत्र है, अन्य शानदार चिनारोंयुक्त अमरसिंह क्लब के आसपास का क्षेत्र क्रिकेट मैदान में परिवर्तित हो गया है।

"डल झील में प्रसिद्ध पिकनिक-स्थल चारचिनारी में अब केवल तीन चिनार हैं, क्योंकि चार में से एक कुछ वर्ष पूर्व मुर्झा गया था।"

हांगुल

जीवविज्ञानियों के मतानुसार, विश्व-भर में हिरणों की तिहत्तर प्रजातियाँ पाई जाती हैं। हिरणों की इन 73 प्रजातियों में से 'हांगुल' भी एक है। विश्व में कश्मीर के अतिरिक्त हांगुल कहीं और नहीं पाया जाता, क्योंकि सम्भवत: यहाँ की स्वास्थ्यप्रद जलवायु, वनों की सघनता एवं स्वच्छता इसे रास आ गई है। यह कश्मीर का एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण जीव है। वैज्ञानिकों का कहना है कि यह पशु अपनी प्रजातियों के विकास की अन्तिम परिणति तक पहुँचा हुआ है।

हांगुल एक स्तनपाई जीव है। इसके सिर पर दो लम्बे-लम्बे सींग दाएँ-बाएँ कानों के तनिक ऊपर होते हैं। प्रत्येक सींग की छह-छह प्रशाखाएँ होती हैं। इस प्रकार कुल मिला कर इस के बारह सींग होते हैं। बारह सींगों वाला होने के कारण ही इसे 'बारहसिंगा' भी कहते हैं। अपने अनेक सींगों के कारण ही इस पशु का नाम हांगुल पड़ा है। संस्कृत में सींग के लिए 'भृंग' शब्द है। हांगुल चूँकि अनेक सींगों वाला है, अत: इसे 'भृंगल' नाम से अभिहित किया जाता रहा होगा। कालान्तर में यही 'भृंगल' शब्द कश्मीरी का हांगुल बन गया होगा। इस पशु विशेष का जीववैज्ञानिक नाम 'सरवस इलाफस्स हांगलू' (Cervus Elaphus Hanglu)है।

सृष्टिकर्ता ने सींगों की सौगात केवल नर हांगुल को ही प्रदान की है। मादा हांगुल को इस सौगात से वंचित ही रखा है। मादा हांगुल की पिछली दो टाँगों के मध्य चार थन होते हैं। यह दो साल के अन्तराल में केवल एक ही बच्चे को जन्म देती है।

हांगुल का बच्चा जब दो वर्ष की आयु का हो जाता है, तो इसके सिर पर दो सींग निकल आते हैं। दूसरे साल इसके सिर से ये दोनों सींग गिर पड़ते हैं। इन गिरे सींगों के स्थान पर दो-दो शाखाओं के दो सींग निकल आते हैं। छह वर्षों के अन्दर-अन्दर मुख्य सींगों पर छह-छह प्रशाखाएँ निकल आती हैं। हांगुल जब आठ साल का हो जाता है तब इसके मुख्य सींगों से प्रशाखाएँ फूटना बन्द हो जाती हैं। इसके मुख्य सींगों की अधिकतम लम्बाई चार-चार फुट तक ही पाई गई है।

हांगुल के सींगों का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता है। इन्हें घिस कर लेप के रूप में तथा भस्म बना कर देसी औषधियों में मिला कर प्रयोग किया जाता है। इनसे चाकू, कटार तथा तलवार आदि के हत्थे बनाये जाते हैं। ड्राइंगरूम की शोभा बढ़ाने के लिए भी इनका उपयोग किया जाता है। कश्मीर में जनसाधारण का विश्वास है कि जिस घर में हांगुल का सींग हो, उस घर के सदस्यों पर किसी प्रकार के जादू-टोने का असर नहीं होता और न उन्हें प्रेत-बाधा ही व्यापती है। इसी विश्वास के कारण कश्मीरी माताएँ अपने बच्चों के गलों में चाँदी या ताँबे से मढ़ा हांगुल के सींग का एक टुकड़ा पहनाती रही हैं।

हांगुल का चेहरा गाय के चेहरे जैसा लम्बोतरा होता है तथा इसके कान खड़े और लम्बे-लम्बें होते हैं। इसकी अधिकतम ऊँचाई चार फुट और अधिकतम भार दौ सौ पचास पौंड तक होता है। इसके चर्म पर घनी रोमराशि होती है। रंग साँवलापन लिये मटियाला होता है। हांगुल-बच्चे के चर्म पर जन्म के समय छोटे-छोटे धब्बे-से होते हैं, जो समय बीतने के साथ-साथ अपने आप मिटते जाते हैं। इसका रंग बड़े हांगुल की अपेक्षा फीका-फीका सा होता है। विशेषज्ञों के मतानुसार हांगुल की अधिकतम आयु पच्चीस वर्ष तक की होती है।

हांगुल का भोजन है — जंगली घास। एक प्रकार के जंगली अखरोट भी यह बड़े चाव से खाता है। शीतकाल में घास न मिलने के कारण इसे खाद्य पदार्थ के अभाव का सामना करना पड़ता है। इस अभाव को दूर करने के लिए इसके विकास में रुचि रखने वाले लोग, इसके लिए विशेष रूप से शलजम बोते हैं तथा गर्मियों में ही सरपत की पत्तोंयुक्त टहनियाँ सुखा कर रखते हैं। हांगुल शलजम तथा इसके पत्ते और सरपत के पत्ते बड़े मज़े एवं चाव से खाता है।

हांगुल बहुत ही सफाईपसन्द प्राणी है। गन्दी जगह में यह एक क्षण के लिए भी नहीं टिक सकता। मक्खी इसे बिल्कुल पसन्द नहीं। जिस स्थान पर मक्खियाँ हों, वहाँ जाना तो दूर, यह उस ओर आँख उठा कर भी नहीं देखता। मल-मूत्र त्यागने में भी यह पशु बहुत तमीज़ व एहतियात से काम लेता है।

पहले कश्मीर में सिंध घाटी, त्राल के शिकारगाह, दिवुर, लिद्दर घाटी, बांडीपुर, व्योस, किश्तवाड़ तथा लोलाब के वनों में हांगुल बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते थे। अब हालत यह है कि इन जगहों पर (एक सर्वेक्षण के आधार पर) मुश्किल से साठ हांगुल होंगे। यह इसलिए कि शिकारियों को हांगुल के शिकार की खुली छूट मिली तथा वनों का अन्धाधुंध कटाव

हुआ। कश्मीर में हांगुल की घटती संख्या का अनुमान एक सर्वेक्षण से होगा। इस सर्वेक्षण के अनुसार सन् 1947 ई. में कश्मीर के वनों में हांगुल की कुल संख्या तीन हज़ार थी, जो सन् 1970 ई. तक आते-आते एक सौ चालीस या एक सौ सत्तर हो गई। इस बात से लगने लगा था कि शीघ्र ही हांगुल का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। पर कश्मीर के इस विशिष्ट शानदार पशु को बचाने के लिए कई सजग पशुप्रेमियों ने सरकार का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया। सरकार ने भी सामयिक एवं सराहनीय कदम उठा कर 'जे. एण्ड के. व्हाइल्ड लाइफ एक्ट-1979' पास करके हांगुल को समूल नष्ट होने से बचाया। इस एक्ट के अनुसार जो व्यक्ति हांगुल का वध करेगा, उसे दो साल की सख्त क़ैद तथा दो हज़ार रुपए का आर्थिक दण्ड भी भरना होगा। हांगुल की सुरक्षा तथा इसके विकास के लिए दाछीगाम नामक स्थान पर एक अभयारण्य बनाया गया है। यहाँ हांगुल के पालने-पनपने का समुचित प्रबन्ध है। कुछ समय के बाद ही दाछीगाम के इस अभयारण्य को राष्ट्रीय उद्यान का दर्जा भी दिया गया।

इण्टरनेशनल यूनियन फ़ॉर कनज़रवेशन ऑफ नेचर एण्ड नेचुरल रिसोरसिस तथा वर्ल्ड व्हॉइल्ड लाइफ फण्ड यानी आइ. यू. एन. सी. और डब्ल्यू. डब्ल्यू. एफ. के सौजन्य से हांगुल परियोजना हाथ में ली गई। इन प्रयत्नों से हांगुल की संख्या में प्रतिवर्ष अभिवृद्धि होती जा रही है। जहाँ सन् 1952 ई. में हांगुल की संख्या चार सौ तीस आँकी गई थी, वहीं सन् 1984 में यह संख्या बढ़ कर पाँच सौ पचपन हो गई है।

पर्यावरण-संतुलन बनाये रखने में अभिरुचि रखने वाले प्रबुद्ध जनों को एकजुट होकर वनों की सघनता एवं पादपों का सफाया रोकने के लिए समुचित कदम उठाने चाहिए, जिससे वन और वन्य-पशुओं की ही नहीं, बल्कि समस्त प्राणियों को संकट से उबारा जा सके।

बादाम

जब बादाम के बिरवे फूलों से लद जाते हैं तब कश्मीर के वातावरण में एक दिव्य सम्मोहन, एक रंगीन गुलाबीपन, अजीब-सी मस्ती व हर्षोल्लास की लहर हर दिशा में छा जाती है। छाये भी क्यों नहीं — प्रकृति जो बर्फ की मोटी रज़ाई तहा कर पर्वत की चोटी पर रख कर जाग उठी है। शिशिर विदा हो गया है। ऋतुराज ने राज सँभाला है।

ऊँचाई पर बने किसी कश्मीरी मकान की खिड़की से झांकिए, जहाँ सामने ढलान पर तथा दाएँ-बाएँ सघन पुष्पयुक्त बादाम-पादप हो। ये आपकी दृष्टि को बाँधे रखेंगे; आमंत्रण दे-दे पास, बहुत पास, बुलायेंगे।

मार्च की गुनगुनी धूप। कोमल हरी-हरी दूब। बादाम-प्रसूनों की कोमल पंखुरियों का बिखराव। बादाम-उद्यान में किसी बौराये बिरवे के नीचे आप। ऊपर टहनियों पर बुलबुलों-भौंरो के गीत। भीनी-भीनी खुशबू बिखेरती वासन्ती वायु के हल्के झोंकों से आप पर हो रही पखुरियों की बौछार....! आप एकाएक किसी स्वप्नलोक, किसी आनन्दलोक में खो जाते हैं !!

जी हाँ, सभी फलदार पादपों में से बादाम ही एक ऐसा वृक्ष है जो कश्मीर में सबसे पहले पुष्पित होता है। यह पादप कश्मीर में कहाँ से और कब से आया, प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। बुजुर्गों से इतना ही सुना है कि बादाम का पहला बूटा सम्भवत: मुग़लों या अफ़गानों के साथ कश्मीर आया। पर कश्मीरी पण्डित इस मेवे को पवित्र मेवा मानते आये हैं- इसे यज्ञाग्नि में होमते आये हैं तो क्या वह मुसलमानों के कश्मीर में प्रवेश से पहले यहाँ विद्यमान नहीं रहा होगा? बादाम के बूटे प्राय: ढलानों पर लगाये जाते हैं। इसके पत्ते कम चौड़े और नोकदार होते हैं। यह पेड़ कद्दावर एवं विशालकाय नहीं होता। यह लम्बाई में तीस फीट तक का हो जाता है। वनस्पतिशास्त्रियों के अनुसार यह गुलाब-परिवार का सदस्य है। इसका वनस्पतिशास्त्रीय नाम 'प्रूनस एमेग्डेलस' है। इसका फूल छोटे आकार का, भीनी-भीनी गन्ध वाला तथा रंग में हल्का गुलाबी होता है। बादाम के पेड़ों में फूल आने पर टहनियों पर पत्ते नहीं लगते, केवल फूल ही फूल लगते हैं। जब टहनियों से फूलों की पंखुडियाँ झड़ जाती हैं, तभी इन पर पत्ते लगने लगते हैं और छोटे-छोटे नाजुक बादाम आकार पाने लगते हैं। समय बीतने के साथ-साथ ये सुकुमार हरे छोटे-छोटे बादाम आकार में बड़े होने लगते हैं और इनके अन्दर तरल गिरी बननी आरम्भ हो जाती है, जो कालान्तर में छिलका सख्त होने के साथ-साथ ठोस रूप धारण करती जाती है। जब बाहर के हरे छिलके के अन्दर बादाम का पक्का छिलका बन जाता है, तब अन्दर गिरी भी पूरी तरह से तैयार हो जाती है।

बादाम के पेड़ लगभग समूची घाटी में पाये जाते हैं। जम्मू-कश्मीर की ग्रीष्मकालीन राजधानी श्रीनगर में बादाम के वृक्षों के दो बड़े-बड़े प्रसिद्व बाग 'बादाम बाग' तथा 'बादाम वॉर' थे, पर अब कांक्रीट के जंगल का दानव इन दोनों को लीलता जा रहा है।

शरदकाल के आरम्भिक दिनों में ही बादाम पक कर तैयार हो जाता है। पेड़ की टहनियों को हिलाने मात्र से पके बादाम टपक पड़ते हैं और इन्हें उठा-उठा कर टोकरियों में एकत्रित किया जाता है। नीचे टपकने पर बादाम के ऊपर का हरा छिलका प्राय: स्वयं अलग हो जाता है। टोकरियों में एकत्रित किये गये बादामों को धोया जाता है, तत्पश्चात धूप में सुखाया जाता है। धुले-सूखे बादामों को आकार तथा छिलके के मोटा या पतला होने के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में बाँटा जाता है। आकार में बड़ा तथा पतले छिलके का बादाम, जिसे कागज़ी बादाम कहा जाता है, पहली श्रेणी का माना जाता है। श्रेणियों में विभाजित होने पर इन्हें विभिन्न मण्डियों में भेजा जाता है। वैसे प्राय: बादाम-बागों के मालिक बिरवों में फूल आने पर ही फसल को ठेकेदारों को बेच देते हैं। फूल आने पर यदि ओले पड़ें या काफी सर्दी हो जाए तो बादाम की फसल को बहुत नुकसान पहुँचता है।

कश्मीरी मात्र पक्के बादाम को ही उपयोग में नहीं लाते, अपितु कच्चे (जब इनमें हरे छिलके के अन्दर का पक्का छिलका नहीं बना होता या वह बहुत ही नर्म होता है) बादामों से व्यंजन भी बनाते हैं। कच्चे बादामों को लम्बाई में दो टुकड़ों में काटकर अचार डाला जाता है। इसी प्रकार कच्चे टुकड़ों में काटकर पनीर के साथ पकाया भी जाता है। पक्के बादाम की गिरी पतली-पतली कुतर कर 'म्वगॅल्य चाय' में डाल दी जाती है। बादाम की गिरियों की बहुत ही स्वादिष्ट चटनी भी बनती है।

स्वाद के आधार पर बादाम की दो किस्में होती हैं — मीठी और कड़वी। कड़वे बादाम खाने के उपयुक्त नहीं होते, क्योंकि इनमें एक विषैला पदार्थ — हाइड्रोसायनिक अम्ल पाया जाता है। बादाम खाने में ही सुस्वादु नहीं, अपितु एक पौष्टिक खाद्य पदार्थ भी है। इसमें फॉस्फोरस, ताँबा, मैग्नेशियम तथा कैल्शियम नामक खनिज और विटामिन 'ई' तथा विटामिन 'बी-दो' पाया जाता है। चिकित्सकों के अनुसार बादाम की बीस से पच्चीस गिरियाँ एक सौ सत्तर कैलोरी दे सकती हैं। बादाम का तेल बहुत ही गुणकारी माना गया है। आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा पद्धतियों में इसे औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता है। बादाम-तेल केलोस्ट्रालविहीन होता है। कश्मीर में पुरानी पीढ़ी की अधिकांश माताएँ अपने बच्चों को निरोग रखने एवं उनकी बौद्धिक क्षमताओं को बढ़ाने के लिए सुबह निहारमुँह उन्हें पानी में भिगोई एवं छिली बादाम की तीन गिरियाँ, तीन काली मिर्च, थोड़ी मिसरी अच्छी तरह पीस कर व तनिक मक्खन या मलाई में मिला कर खिलाती थीं।

मण्डियों में बादाम की माँग हर समय रहती ही है, क्योंकि आइसक्रीम कम्पनियाँ, मिठाई बनाने वाले तथा औषधियाँ बनाने वाली कम्पनियों को इनकी आवश्यकता रहती है। शादियों तथा दीवाली आदि उत्सवों पर इनकी माँग काफी बढ़ जाती है। कश्मीर आने वाले पर्यटक कश्मीर के बादाम यहाँ की विशिष्ट सौगात के रूप में अनिवार्य रूप से खरीद कर ले जाते हैं। इस प्रकार बादाम कश्मीर की आर्थिक प्रगति का एक अच्छा साधन भी है।

कश्मीरी भाषा एवं कला पर बादाम का काफी प्रभाव है। किसी स्त्री के अनुपम सौंदर्य को शब्द देने हों तो कश्मीरी में एक मुहावरा है—'बादाम गूजहिश', यानी बादाम की गिरी सरीखी! किसी की आँखों की सुन्दरता को रेखांकित करना हो तो 'बादाम चश्मुँ' (बादाम-सी आँखें) कहा जाता है। कश्मीर के विश्व-प्रसिद्ध शॉलों तथा कढ़ाई किए जाने वाले अन्य सामान पर बादाम के डिज़ाइन काढ़े जाते हैं। जिस शॉल पर बादाम के डिज़ाइन काढ़े गये हों उसका नाम ही 'बादामदोर' रखा गया है। इसी प्रकार पेपरमॉशी के बने सामान पर भी बादाम के डिज़ाइन चित्रित किये जाते हैं। यहाँ के प्रसिद्ध चित्रकारों ने भी बौराये बादाम पादपों के सुन्दर चित्रांकन किये हैं। स्वर्गीय दीनानाथ 'अलमस्त' ने गुलाबी एवं सुरमई वातावरण में यौवन की उमंग एवं कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बादाम-प्रसूनों को ही बनाया है। उनका एक चित्र है—

एक कश्मीरी युवती बादाम-उद्यान में एक बौराये बिरवे के नीचे अपनी एक बाँह सिर के नीचे टिकाये सुप्तावस्था में है। एक कश्मीरी युवक बादाम के फूलों लदी डाल से उसके गुलाबी कपोलों को छू रहा है। इसी प्रकार कश्मीरी कवियों की कविता भी बादाम के प्रभाव से अछूती नहीं है। दो-एक उदाहरण प्रस्तुत हैं —

वस्सुँकरिथ खंजर बुमन
चाव बनाज़ दरचमन
यम्बुर्ज़लन तुँ बादुमन
फज़ुलुँ पनुन ख्वदा करे।
—आज़ाद

बादाम

ब्याह-शादियों पर महिलाओं द्वारा गाये जाने वाले (वनुँवुन नामक) लोकगीतों में भी बादाम का बार-बार ज़िक्र आता है। देखिए—

आदनुँ फ्वॅलुॅहम बादम पोशो
गोशन रॅटुॅथम परबतुॅ जाय
बरुॅग चोन छवत तय म्यवुॅ चोन खोशो
स्वरिव तपुॅरेशो सदाशिव।

अर्थात, रे बादाम-प्रसून, तुम पहले खिले। तुमने अच्छी जगह हरिपर्वत (क्योंकि यह जगन्माता का पावन स्थान है) के दामन में अपना स्थान ग्रहण किया। तुम्हारी पंखुड़ियाँ श्वेत और फल बहुत ही स्वादिष्ट और पोषक हैं। हे तपस्वियो! सदा सदाशिव का स्मरण करो।

तथा —

खारसी तेल तय मरेद बादम
आदन बोजी लॉसीनय।

और —

कलुॅशस त्रोवमय बादाम सासा
दातसति रुमयर्येशुन आय।

अर्थात्, अरी, तिल, चूना और बादाम ऊपर की मंज़िल पर ले जाओ (जहाँ यज्ञ हो रहा है), ईश्वर तुम्हारे जीवन-साथी को लोमश ऋषि जितनी आयु प्रदान करे।

इसी प्रकार जम्मू-कश्मीर के जाने-माने कवि 'मधुप' जी क्रमशः अपने काव्य-संकलन 'वे मुखर-क्षण' तथा 'खुली आँख की दास्तान' में कहते हैं —

बौराये बादाम बसन्ती वायु चली

(पृष्ठ 36)

तथा —

बौराये बादाम की डाल का परस / जिनके भाग्य में नहीं / उनके गले से लिपटी / बबूल की बाँह ही / उनकी खुशी

(पृष्ठ 29)

कश्मीरियों ने बादाम को एक पवित्र मेवे, श्रद्धा, प्यार तथा खुशियों के प्रतीक के रूप में भी स्वीकार किया है। कश्मीरी पण्डित यज्ञ-यागादि में बादाम की आहुति देते हैं, मन्दिरों में प्रसाद चढ़ाते हैं, साधु-महात्माओं को सश्रद्धा भेंट करते हैं, किसी प्रिय जन, बन्धु-बान्धव एवं इष्टमित्र को बादाम उपहारस्वरूप देते हैं। कश्मीरी पण्डित वर्ष प्रतिपद को (जिसे स्थानीय भाषा में 'नवरेह' कहा जाता है) प्रातः जागने पर चावल, दूध, दही, नये पंचांग, लेखनी आदि के साथ बादाम तथा बादाम के फूलों का दर्शन शुभ मानते हैं।

और तो और, कोई गर्भवती महिला या उसका कोई निकट सम्बन्धी सपने में बादाम देखे तो लोक-विश्वास है कि वह महिला पुत्र को ही जन्म देगी। कहने का तात्पर्य यह कि बादाम कश्मीरी लोकजीवन में काफी घुल-मिल गया है।

कांगड़ी
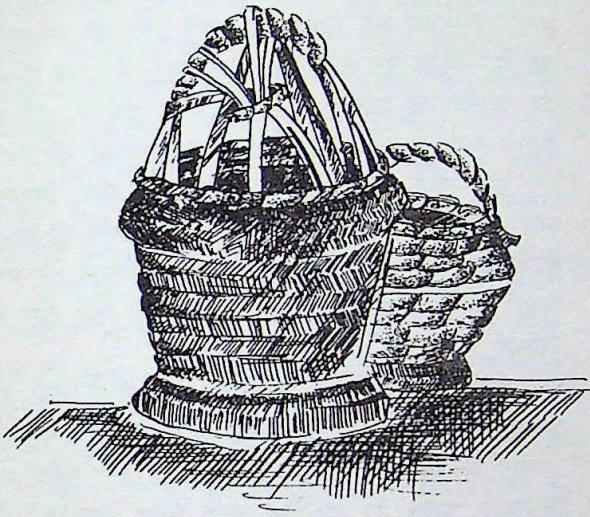
कांगड़ी

शीतकाल में हिमपात तथा शीतलहर के प्रकोप से कश्मीर का तापमान कभी-कभी ऋण (-) 14 डिग्री सेल्शियस से भी नीचे गिर जाता है। नलों तथा छोटे-छोटे जलाशयों की तो बात ही क्या, विश्वप्रसिद्ध डल झील तक जम जाती है। इस जानलेवा ठण्ड में कश्मीरी अपने शरीर को गर्म रखने के लिए प्रमुखत: दो वस्तुओं का उपयोग करते हैं। ये दो वस्तुएँ हैं, विशेष परिधाान 'फ्यरन' तथा 'फ्यरन' के अन्दर तापने के लिए 'कांगुॅर' यानी 'कांगड़ी'।

न जाने देश के अन्य भागों में रहने वाले लोगों में यह भ्रान्त धाारणा कैसे फैल गई है कि कश्मीरी कांगड़ी को रस्सी से गर्दन में लटकाते हैं। मैंने हिन्दी के मानक शब्दकोषों में भी 'कांगड़ी' का यही अर्थ लिखा पाया! और तो और, 'मानक हिन्दी शब्दकोष' में भी कांगड़ी शब्द का अर्थ एक प्रकार की छोटी अँगीठी, जिसे कश्मीरी लोग सर्दी के दिनों में गले से लटकाए रखते हैं—दर्ज पाया। गले से लटकाने वाली बात सरासर ग़लत है। हाँ, कश्मीरी एक प्रकार की अँगीठी (कांगड़ी) का प्रयोग तो करते हैं; पर, इसे गले से न कभी लटकाया जाता था, न अब लटकाया जाता है। कश्मीरी इसे चलते-फिरते, उठते-बैठते तथा लेटे-सोते सर्दियों में हर क्षण अपने साथ रखते हैं। कांगड़ी का उपयोग करने में कश्मीरी इतने अभ्यस्त हैं कि नींद में करवट बदलते हुए भी वे कांगड़ी उसी करवट रख देते हैं! सम्भवत: हर पल साथ रखने के कारण ही ग़ैर कश्मीरियों ने धारणा बना ली कि इसे गले से लटकाया जाता है। यह भी सम्भव है कि हर क्षण साथ होने के कारण किसी ने 'गले से लटकाने' की बात व्यंग्यार्थ में कही हो और जन-साधाारण ने इसे अभिधार्थ में लिया हो।

'कांगुॅर' या कांगड़ी का नाम 'कांगुॅर' कैसे पड़ा, इसके लिए काफी छानबीन की आवश्यकता है। कल्हण पण्डित कृत 'राजतरंगिणी' तथा मंख पण्डित रचित 'श्रीकण्ठ चरित' में 'हसन्तिका' शब्द का उल्लेख है। 'हसन्ती' अँगीठी का संस्कृत पर्याय है, अत: 'हसन्तिका' शब्द अवश्य ही अँगीठी के परिवर्तित एवं छोटे रूप का नाम रखा गया होगा। अँगीठी का परिवर्तित एवं लघु रूप कांगड़ी ही रहा होगा। पर अब प्रश्न यह है कि 'हसन्तिका' 'कांगुॅर' कैसे बनी? वैसे 'हसन्तिका' का 'कांगुॅर' या 'कांगड़ी' हो ही नहीं सकता! तब? हो सकता है कि कल्हण तथा मंख के पश्चात हसन्तिका के रूप एवं आकार में परिवर्तन आया हो और इस परिवर्तित रूप एवं आकार की वस्तु का नाम कुछ और रख दिया गया हो। इस सम्भावित नाम की चर्चा से पहले, आइए इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों की क्या राय है, उस पर एक सरसरी नज़र डालें।

आर. एस. पण्डित के मतानुसार 'कांगुॅर' संस्कृत शब्द 'कुक्षाग्नि' का बिगड़ा रूप है; पर अन्य अनेक विद्वान पण्डित जी की इस बात को तर्कसंगत नहीं मानते।

जे. हन्टन नोयेल्ज़ के अनुसार कश्मीरी शब्द 'कांगुॅर' का स्रोत कश्मीरी शब्द 'कानिग्वोॅर' यानी टोकरियाँ बुनने वाला हो सकता है। चूँकि टोकरियाँ बुनने वाला (कानिग्वोॅर)'कांगड़ी' का बाहरी फ्रेम बुनता है, अत: उसी के नाम पर 'कांगुॅर' नाम पड़ा होगा। पर यह तर्क भी जँचने वाला नहीं, क्योंकि 'कानिग्वोॅर' शब्द कश्मीरी भाषा में कभी प्रयोग हुआ ही नहीं। इस शब्द के बदले 'काञुल' शब्द प्रयोग मे होता आया है।

मिस्टर नोयेल्ज़ का ही दूसरा मत है कि 'कांगुॅर' शब्द सीधे संस्कृत से आया है। यह शब्द 'कं+अंगारी' से बना है। 'कं' का अर्थ छोटा या बिगाड़ना आदि है, तथा 'अंगारी' वहनीय अग्निपात्र या अंगारों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

कश्मीर के कुछ और विद्वान मानते हैं कि 'कांगुॅर' का स्रोत 'कंग' शब्द है। कश्मीर में 'कंग' मिट्टी के बने उस पात्र

को कहते हैं जिसमें आग होती है। 'कंग' प्रज्वलित अग्नि को भी कहा जाता है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में ऐसे अग्निपात्र (कंग) कश्मीर में काफी प्रचलित थे। आजकल भी लद्दाख के दूर-दराज़ इलाकों के गाँवों में 'कंग' का प्रयोग होता है। 'कंग' वास्तव में तिब्बती भाषा का शब्द है। लद्दाख पर तिब्बत का खासा प्रभाव होने से इनकार नहीं किया जा सकता, पर कश्मीर घाटी पर इस भाषा का अधिक असर नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि कश्मीरी भाषा पर संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव ही नहीं, अपितु कश्मीरी संस्कृत की ही पुत्री है। इन दोनों बातों कि परिप्रेक्ष्य में नोयेल्ज़ महोदय की बात ही सही लगती है कि 'कांगुॅर' शब्द सीधे संस्कृत से आया है। यह शब्द, जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'कं+अंगारी' शब्दों से बना है। 'कं' का अर्थ अग्नि भी है और 'अंगारी' का अर्थ कोयले, अंगारे तथा सूर्य द्वारा तप्त है। कं+अंगारी से 'कंगारी' बना, जिसका अर्थ कोयलों के अंगारों की वहनीय आग है जो सूर्य के ताप के समान है। यही 'कंगारी' शब्द कालान्तर में ज़बान से ज़बान तक का लम्बा सफ़र तय करके 'कांगुॅर' (कश्मीरी) तथा 'कांगड़ी' (हिन्दी) शब्द बन गया।

आर्य-संस्कृति में अग्नि का बहुत महत्त्व है। जब से ऋषि कश्यप ने सतीसर का पानी निकाल कर कश्मीर को निवासयोग्य बनाया होगा, तभी से यहाँ बसने आए लोगों (ऋषियों) ने अपने धार्मिक अनुष्ठानों के लिए अग्निकुण्ड बनाए होंगे। अग्निकुण्ड का ही परिवर्तित रूप हसन्ती, हसन्तिका और कांगड़ी लगता है। जब कश्मीर में आरम्भ से ही लोगों को अग्निकुण्ड के बारे में ज्ञान था तो तिब्बत से 'कंग' का विचार आयातित करने में कोई तुक नहीं लगता। जब 'कंग' आयातित नहीं हुआ तो 'कांगुॅर' का 'कंग' से सम्बन्ध जोड़ना बेतुका ही है। खैर, मेरे विचार से 'कांगड़ी' कश्मीर में बसी आर्य-बुद्धि की ही उपज है। यह किसी अन्य देश से कश्मीर नहीं आई है। एक वर्ग विशेष के कई बुद्धिजीवी कश्मीर की अनेक विशिष्ट वस्तुओं को विदेशों से आयातित बताते हैं। ऐसे ही कांगड़ी के विषय में भी इन लोगों ने यह भ्रान्त धारणा प्रचलित की है कि कांगड़ी अकबर बादशाह के साथ आए इटलीवासी अपने साथ लाए थे। ये लोग अपने इस विचार की पुष्टि में कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। इनसे जब यह पूछा जाता है कि अकबर बादशाह के साथ आए इटलीवासियों के कश्मीर आने से पहले एवं इनकी लाई हुई कांगड़ी के प्रचारित एवं लोकप्रिय होने से पहले कश्मीरी अपने-आपको गर्मी कैसे पहुँचाते थे, तो ये लोग बगलें झाँकने लगते हैं।

कांगड़ी कश्मीर घाटी में ही क़ैद नहीं रही, बल्कि कश्मीरी जहाँ-जहाँ गए कांगड़ी उनके साथ उन-उन स्थानों तक पहुँच गई। कहा जाता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ही कांगड़ी अमृतसर और लाहौर तक पहुँच चुकी थी। आजकल यह देश-विदेश हर कहीं नज़र आने लगी है। अब अनेक ग़ैर-कश्मीरी भी कांगड़ी का प्रयोग सीख चुके हैं, भले ही इनकी तादाद कम हो। आजकल के ऊर्जा संकट को देखते हुए यदि लोगों को कांगड़ी का समुचित प्रयोग सिखाया जाए तो लकड़ी, विद्युत तथा मिट्टी के तेल आदि की ख़पत काफी कम हो सकती है तथा वे अमूल्य जीवन भी बचा सकते हैं जो शीतकाल के दौरान सर्दी की ताब लाने में असमर्थ होते हैं।

कांगड़ी कुम्हार और टोकरियाँ आदि बुनने वाले के सहयोग से बनती है। कुम्हार कांगड़ी में काम आने वाले गोल आकार के बर्तन को बनाता-पकाता है। इस बर्तन को 'क्वण्डल' कहते हैं। टोकरियाँ बुनने वाला 'क्वण्डल' के इर्द-गिर्द लचीली टहनियों का एक फ्रेम बुनता है। इस टोकरीनुमा फ्रेम के साथ ही हत्थे तथा हत्थे के पीछे की ओर एक-दो छोटी चूड़ियाँ-सी बुनी जाती हैं। इन चूड़ियों के साथ चम्मच के आकार की एक वस्तु डोरी के साथ बाँधी जाती है, जिससे कांगड़ी के अंगारों एवं इसकी राख को आवश्यकता पड़ने पर चलाया जाता है। इस वस्तु को 'चालन' कहते हैं। मिट्टी के बर्तन, यानी क्वण्डल, के इर्द-गिर्द के टोकरीनुमा फ्रेम को 'कांगरिखोर' तथा 'हत्थों' आदि को 'कोप' कहते हैं। हत्थे को पकड़ कर ही कांगड़ी उठाई या उठा कर इधर-उधर ले जाई जा सकती है। 'कांगरिखोर' तथा 'कोप' विशेष प्रकार के झाड़ या वृक्षों की टहनियों से बुना जाता है। ये टहनियाँ पानी में भिगो कर, छील कर और रँग कर, या बिना रँगे ही, काम में लाई जाती हैं।

कांगड़ी में चिनार या अन्य वृक्षों के सूखे झड़े पत्तों के कोयले या छोटी-छोटी टहनियों आदि से बनाए गए कोयले अथवा दोनों का मिश्रण भरा जाता है। इल कोयलों पर उपलों के अंगारे या लकड़ी के कोयले के अंगारे भरे जाते हैं। यदि पर्याप्त अंगारे उपलब्ध न हों तो कांगडी के कोयले को किसी जलती लीर या जलते गत्ते के टुकड़े से सुलगाया जाता है तथा फूँक मार-मार कर काफी सारे कोयलों को अंगारों में परिवर्तित किया जाता है। यही अंगारे काफी समय तक कांगड़ी के अन्दर सुलग-सुलग कर कांगड़ी में भरे कोयलों को सुलगाए रखते हैं तथा तापने वाला इनसे गर्मी प्राप्त करता

रहता है।

कश्मीर के जिस-जिस स्थान पर कांगड़ियाँ बनती हैं, उसी स्थान के नाम पर कांगडियों के प्रकार का नाम पड़ा है। च्रार, अनन्तनाग, शाहाबाद तथा बांडीपुर आदि-आदि स्थानों पर बनने वाली कांगड़ियों को क्रमश: च्रारुँ कागुॅर, अनथनॉग्य कागुॅर, शाहाबॉद्य कांगुर, तथा बन्डुॅपूर्य कागुॅर आदि नामों से अभिहित किया जाता है। च्रार तथा अनन्तनाग में बनने वाली कांगड़ियाँ प्राय: पतली-पतली एवं रँगी टहनियों से बुनी जाती हैं। इनकी बुनावट भी सुन्दर होती है। शाहाबाद तथा बांडीपुर में बनने वाली कांगड़ियाँ मजबूत टहनियों एवं मजबूत बुनावट की होती हैं।

उक्त प्रकारों के अतिरिक्त अलंकरण तथा प्रयुक्त सामग्री के आधार पर भी कांगड़ियों के ग्रीस्य कागुॅर, ख्वजि कागुॅर तथा वोॅज़िकागुॅर — तीन और प्रकार हैं। मोटी टहनियों से अटपटी बुनावट और भद्दी आकृति वाली कांगड़ी 'ग्रीस्य कागुॅर' (गँवारों की कांगड़ी) आजकल देश-विदेश हर कहीं नज़र आने लगी है। सुन्दर तथा पतली-पतली टहनियों से बुनी एवं विभिन्न रंगों से रँगी आकर्षक आकृति वाली कांगड़ी को 'ख्वजि कागुॅर' (सभ्य एवं धनवानों की कांगड़ी) तथा अत्यधिक अलंकरण एवं रंगबिरंगी टहनियों से अच्छी तरह बुनी हुई कांगड़ी को वोॅज़िकागुॅर (घुँघरुओं वाली कांगड़ी) कहते हैं। कई अति-अलंकृत छोटी-छोटी कांगड़ियाँ केवल ड्राइंगरूमों में सजाने के लिए ही बनाई जाती हैं।

कांगड़ी कश्मीरी जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गई है। इस बात को रेखांकित करने के लिए कि जीवन में इसका कितना महत्त्व है, कश्मीर में निम्न कहानी प्रचलित है —

कहा जाता है कि बहुत समय पहले मैदानी क्षेत्र में रहने वाले एक दयालु वैद्य के मन में यह विचार आया कि मैं शीतकाल में कश्मीर की गरीब जनता को सर्दी से होने वाले रोगों का इलाज करके उनकी सहायता करूँगा। ऐसा सोच कर उसने कश्मीर की ओर प्रस्थान किया। कश्मीर के किसी स्थान विशेष पर पहुँच कर उसे कोई नदी पार करनी थी, जिसे उसे एक शिकारे (छोटी नौका) द्वारा पार करना था। जब वैद्य जी ने नदी-तट पर लगे शिकारे में बैठे एक गरीब मांझी के पुत्र को पार उतारने के लिए कहा तो वह उस समय हल्का फटा-पुराना चिथड़ा पहने हुए सिंघाड़े के आटे की बासी लपसी खा रहा था। चिथड़ा पहने वह लड़का लगभग नंगा ही था। हिमपात हो चुका था। आकाश बादलों से घिरा था तथा शीतलहर अपने यौवन पर थी। वैद्य जी काफी गर्म कपड़े पहने थे, परन्तु फिर भी मारे ठण्ड के ठिठुर रहे थे। जब वैद्य जी ने लड़के को लगभग नंगे बदन बासी लपसी खाते तथा शीतलहर के हाड़-कँपा देने वाले झोंकों को सहते देखा तो उसे पूरा निश्चय हुआ कि लड़के को अभी निमोनिया हो जायेगा और उसका बचना मुश्किल हो जायेगा। लड़के ने सारी बासी लपसी खाई। हाथ धो बर्फ हुए नदी के पानी से कुल्ला किया। दो-तीन बार अंजलि में पानी ले पिया। हाथ पहने हुए चिथड़े से ही पोंछे और शिकारे के पृष्ठभाग में रखी लाल-लाल अंगारों वाली कांगड़ी को चिथड़े के अन्दर ले पेट के साथ सटाया। चप्पू हाथ में लिया और वैद्य जी को आवाज़ देते हुए बोला — आइए नाव में बैठिए, आपको पार उतार दूँ। वैद्य जी ने आश्चर्य भरी दृष्टि से लड़के तथा उसके चिथड़े के अन्दर की कांगड़ी की ओर देखा और बच्चे से कहा—नहीं बेटे, मुझे अब पार नहीं उतरना। कश्मीरवासियों की जिस बीमारी का इलाज करने आया था, उसका इलाज उन्होंने पहले से ही कर रखा है। ऐसा कह कर वैद्य जी जैसे आए थे, वैसे ही लौट गए।

कांगड़ी और कश्मीरियत का चोली-दामन का साथ है। शीतकाल में कोई मित्र या मेहमान किसी कश्मीरी के यहाँ आता है तो सब से पहले उसे कांगड़ी ही पेश की जाती है। कश्मीरी पण्डितों के सबसे बड़े त्योहार शिवरात्रि के कई दिन पहले जब ब्याहता लड़की मैके आती है तो उसे अन्य सामान के साथ एक सुन्दर-सजीली कांगड़ी भी दी जाती है। लड़की की शादी के पहले वर्ष जब एक रस्म, जिसे कश्मीरी पण्डित समाज में 'शिशुॅर लागुन' कहते हैं, अदा की जाती है, उस समय भी नववधू के ससुराल वाले एवं उनके सम्बन्धी, मित्र वधू की नई सुन्दर खाली कांगड़ी में मेवे और नोट तथा सिक्के डालते हैं। किसी मृत व्यक्ति के वर्ष-भर जो श्राद्ध आदि होते हैं, उनमें भी अन्य वस्तुओं के साथ मृतक के नाम कांगड़ी दान में दी जाती है। जिस प्रकार मैदानी क्षेत्रों में हर साल मकर संक्रांति के अवसर पर पितरों के नाम जल-भरे घड़े दान किए जाते हैं, उसी प्रकार इस दिन कश्मीर में अंगारों से भरी कांगड़ियाँ पितरों के नाम प्रति वर्ष दान दी जाती हैं। यज्ञोपवीत-संस्कार, ब्याह-शादियों तथा ऐसे ही अन्य उत्सवों पर जवान महिलाएँ मंगलगान गाती हैं, तो उस समय अंगारों-भरी कांगडी में हरमल के बीज (जिसे स्थानीय भाषा में इसबन्द कहा जाता है) जलाना अनिवार्य होता है। इतना ही नहीं, किसी व्यक्ति की प्रेतबाधा दूर करनी हो तो कांगड़ी में अभिमन्त्रित तिल तथा गुग्गल धूप अवश्य जलायी जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि कांगड़ी कश्मीरी लोकजीवन के हर क्षेत्र में समा गई है।

कश्मीरी लोकगीतों में भी कांगड़ी ने स्थान पाया है। इस सम्बन्ध में निम्न उदाहरणों का अवलोकन कीजिए—

कॅम्यसना क्वण्डुॅले कांगुॅरनीनम
क्याहकरुॅ छस चालन। . . .

अर्थात, किस दुष्टा ने मेरी कांगड़ी मार ली। क्या करूँ, सहने के सिवा और कोई चारा नहीं।

इसी प्रकार शीतकाल में कांगड़ी की उपयोगिता से प्रभावित हो कर लोकमन गा उठा —

पॉर्यलगुये म्यॉन्य कांगुॅर्ये लो लो
च्रारॅ वॉज्यमखय वॉनि कांगुर्ये लो लो . . .

अर्थात, अरी मेरी कांगड़ी, तेरी बलिहारी! तुझे मैं च्रार नामक स्थान से लाया हूँ, ओ मेरी सजीली कांगड़ी री!

वर्ष के बारह महीनों में कांगड़ी की क्या स्थिति होती है, इसी आशय का एक लोकगीत है—

वह्यख ओय रह्यख कती कांगरी!
चिथुॅर ओय मुॅथुॅर पशपुय कांगरी!

इसका भावार्थ है—कांगड़ी, वैशाख मास में तू कहाँ रहेगी? ज्येष्ठ मास में तू बौखला जायेगी। आषाढ़ में तू भाग ही जायेगी। सावन में तुम्हारा यौवन चुक जायेगा। भाद्रपद में तुम्हारी सुध किसे रहेगी। आश्विन में तुम्हें बुलाने सन्देशवाहक आयेंगे। कार्तिक में तुम्हें गर्माया जायेगा। मार्गशीर्ष में तुमसे चिपके ही रहने का मन होगा। पौष में तुम धीरे-धीरे सुलगोगी। माघ में एक क्षण के लिए भी तुम्हारा अभाव खलेगा। फाल्गुन में तुम्हें चुराने का मन नहीं होगा। चैत्र में तो तुम (अपना अनादर देख) भयभीत हो जाओगी।

कश्मीरियों पर कांगड़ी का इतना प्रभाव है कि कश्मीरी भाषा के अनेक मुहावरों में इसका प्रयोग परिलक्षित होता है। ऐसे कई मुहावरों का अवलोकन कीजिए—

रठ म्यॉन्य कांगुॅर वुछ म्यॉन्य टुॅरव

अर्थात, मेरी कांगड़ी पकड़ लो और मेरी दौड़ देखो।

इस मुहावरे का हिन्दी पर्याय होगा— कांधे पर लो बोझ हमारा, देखो दौड़ हमारी।

यसुन्जुॅय कांगुॅर तसुन्दिस फरिस। अर्थात, जिसकी कांगड़ी उसी के गिरेबान में। इसका हिन्दी पर्याय होगा — अपना भार अपने ही सिर।

पनुॅनि कांगुॅरि व्ययिसुन्दि अथुॅव्वखुल करुन। अर्थात्, अपनी कांगड़ी की आग दूसरे के हाथ से चलाना। हिन्दी पर्याय -बांबी में हाथ तू डाल, मंत्र मैं पढ़ूँ।

कांगुॅरि व्वॉथुजि। अर्थात, कांगड़ियाँ चलना यानी जबरदस्त झगड़ा।

जब दो व्यक्तियों में कारणवश झगड़ा हो जाता है तो प्रायः क्रोध की अभिव्यक्ति इस वाक्य से की जाती है— लायियि कांगुॅर कलस तुॅ वसी फुसर, यानी तुम्हारे सिर पर कांगड़ी दे मारूँ कि झुलस जाओ, इत्यादि।

किसान जाड़े-भर में कांगड़ियों की राख खड्डों में एकत्र करके खेतों में खाद के रूप में प्रयोग करते हैं। कश्मीरी पण्डित अपने काँसे के बर्तनों में कांगड़ी की राख मल कर उनका शुद्धिकरण करते हैं।

असावधानी से प्रयोग किये जाने पर कांगड़ी घातक सिद्ध हो सकती है। इससे कपड़े या शरीर का कोई अंग जल सकता है। मकानों में आग लग सकती है, जिससे मुहल्लों के मुहल्ले स्वाहा हो सकते हैं। इसके अत्यधिक प्रयोग से त्वचा के ऊपरी स्तर झुलस जाते हैं और तेज़ अंगारों वाली कांगड़ी का बराबर प्रयोग करने से जंघाओं अथवा टाँगों में कैंसर हो सकता है। इस प्रकार के कैंसर को आयुर्विज्ञान में कांगुॅरि कैंसर का नाम दिया गया है।

फिर भी यदि कांगड़ी का देश के अन्य भागों में प्रचार किया जाए और उपयोग की विधि सिखलाई जाए, तो शीतलहर से होने वाली मौतों की रोकथाम बहुत हद तक हो सकती है।

समावार

ठेठ कश्मीरियत की पहचान कराने वाली वस्तुओं में समावार का अपना विशेष स्थान है। समावार एक विशेष पात्र है जिसमें कश्मीरी चाय बनाते हैं। इस अनूठे पात्र की विशेषता यह है कि इसे किसी चूल्हे पर चढ़ा कर चाय नहीं बनती, अपितु इसी पात्र में कच्चे कोयले सुलगा कर, पानी-पत्ती आदि डाल कर चाय बनाई जाती है।

कहा जाता है कि 'समावार' शब्द मूलतः रूसी भाषा का है। रूसी में 'समावार' को 'सोमेवार' कहा जाता है। रूसी के विश्वप्रसिद्ध उपन्यासकार मैक्सिम गोर्की ने 'माँ' नामक उपन्यास में 'सोमेवार' शब्द का प्रयोग किया है। इसी आधार पर कई विद्वानों का मानना है कि समावार कश्मीरी-बुद्धि का मौलिक आविष्कार नहीं, यह रूस से ही कश्मीर में आयात हुआ है। जो भी हो, समावार कश्मीरी रसोईघर का एक बहुत ही जरूरी पात्र तथा कश्मीरी जीवन का एक अभिन्न अंग रहा है।

कश्मीरी लोकगीतों में ही नहीं, अपितु अनेक सुप्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित कश्मीरी कवियों, साहित्यकारों ने समावार को अपनी रचनाओं में स्थान देकर इसकी गरिमा में चार चाँद लगाये हैं। उदाहरणार्थ, कश्मीरी के एक सुविख्यात कवि श्री ज़िन्दा कौल 'मास्टरजी' (साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता) की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं —

बॉम्बरनुॅयहुन्द हेरि सन्तूराह वज़ान
ब्वोॅनु समावारस तुॅ साज़स मान-मान।

यानी, बादाम के बिरवों की पुष्पलदी डालों पर भौरों के सन्तूर बज रहे हैं और इन पादपों के नीचे पिकनिक पर आये जनों के समावारों तथा वाद्य-यंत्रों की सुरीली आवाज़ में होड़ लगी हुई है।

कश्मीरी 'वनुॅवुन' (ब्याह-शादियों पर गाये जाने वाले लोकगीतों) में भी 'समावार' का अनेक बार प्रयोग हुआ है। दो-एक बानगियाँ देखिए —

— समावारस त्यगुॅल त्राव
वाहवा मामुॅटोठ हय आव।

अर्थात, (अरी !) समावार के अग्नि-पात्र में सुलगते अंगारे डालो, क्योंकि बच्चों के प्रिय मामाजी आये हैं।

इसी प्रकार ब्याह-शादियों पर लोकगीत गाती मुसलिम महिलाएँ गृहिणी को संकेत देते हुए गाती हैं —

— चाय कर पॅतिलन फिर समावारन
कहवुॅकर दुनियाहदारन क्युत।

अर्थात, चाय {कश्मीरी शीर्य (क्षीर यानी दूध वाली नमकीन चाय)} पतीलों में बना कर समावारों में उँड़ेल दो और क़हवा यानी 'म्वोगुॅल्य चाय' (बिना दूध वाली विशेष प्रकार की चाय) धनवानों के लिए बनाओ।

कश्मीरी में समावार के लिए निम्न पहेली प्रचलित हैं —

मंज़बाग सरस / दज़ान नार ।
यानी, बीच सरोवर के / जल रही है आग।

अतिथियों, मित्रों, परिजनों आदि का सत्कार करना हो, कोई समारोह हो, उत्सव हो या पिकनिक-ये सभी आयोजन तब तक अधूरे हैं, जब तक समावार में उबल रही गर्म-गर्म चाय पी-पिलाई न जाए। किसी सम्पन्न व्यक्ति की बैठक हो, या दरिद्र मज़दूर की झोंपड़ी, दोनों स्थानों पर समावार अपनी टोंटियों से निकल रहे सुवासित वाष्प द्वारा वातावरण को सुरभित कर देता है। समावार को हर जगह और हर मौके पर हाज़िर-नाज़िर देखकर शायद वाल्टर लारेंस ने अपनी पुस्तक 'द वेली ऑफ कश्मीर' में लिखा है — 'कश्मीर में हर समय चाय का समय होता है।'

समावार छोटे आकार के भी होते हैं और बड़े आकार के भी। दैनिक घरेलू उपयोग के लिए छोटे आकार के समावार, जिनमें लगभग छह से बारह प्याले चाय बन सके, तथा उत्सवों एवं ब्याह-शादियों पर बड़े आकार के समावार, जिनमें लगभग बीस से पच्चीस प्याले चाय बन सके, उपयोग में लाये जाते हैं।

समावार पीतल या ताँबे से निर्मित होता है। इसका आकार जग से मिलता-जुलता है। इसके मुख्यत: चार भाग होते हैं — बाह्य भाग या चाय-पात्र, आन्तरिक भाग या अंगार-पात्र, ऊपर का ढक्कन तथा नीचे का आधार। ये चारों भाग आपस में जुड़े होते हैं। बाहर के, जग के आकार वाले, भाग के साथ टोंटी और उसके ठीक विपरीत हत्था जुड़ा होता है। समावार के इसी जगनुमा भाग में पानी तथा चाय-पत्ती आदि डाली जाती है।

चाय-पात्र के अन्दर इसकी लम्बाई तथा व्यास के अनुपात से बहुत कम व्यास का एक बेलननुमा पात्र होता है। इसे अंगार-पात्र (नारुँबानुँ) कहा जाता है। अंगार-पात्र चाय-पात्र के पेंदे से जुड़ा होता है तथा इसके तल में जाली बनी होती है। ये एक गोलाकार पोले आधार के साथ जुड़े होते हैं। आधार के इर्द-गिर्द भी जाली कटी होती है। ऊपर एक बाउलनुमा ढक्कन होता है, जो चाय-पात्र के ऊपर पूरा आता है। इस ढक्कन के बीचोंबीच अंगार-पात्र के सिरे के व्यास का गोल छेद कटा होता है। इस छेद को ढकने के लिए भी एक छोटा ढक्कन लगा होता है। छोटा ढक्कन बड़े ढक्कन के साथ कब्ज़े से और बड़ा ढक्कन चाय-पात्र के ऊपरी हिस्से के साथ एक और कब्ज़े से जुड़ा होता है।

पीतल के बने समावार का उपयोग कश्मीरी हिन्दू तथा ताँबे के समावार का प्रयोग कश्मीरी मुसलमान करते हैं। पीतल के समावार के चाय-पात्र के अन्दर के भाग तथा अंगार-पात्र के बाहर के भाग में क़लई कराई जाती है; पर ताँबे के समावार के चाय-पात्र के अन्दर-बाहर तथा अंगार-पात्र एवं आधार के बाहरी भागों में क़लई कराई जाती है।

चाय बनाने के लिए सर्वप्रथम समावार का ढक्कन खोल कर चाय पात्र में पानी तथा चाय-पत्ती डाल कर ढक्कन बन्द कर दिया जाता है, फिर बड़े ढक्कन के छेद से अंगार-पात्र के अन्दर सुलगते अंगारे व कच्चे कोयले डाले जाते हैं। तत्पश्चात ढक्कन के छेद से फूँक मार-मार कर अंगारों को बहुत अच्छी तरह से सुलगा कर ऊपर से कुछ कच्चे कोयले डाले जाते हैं और इन्हें भी सुलगाया जाता है। आधार के इर्द-गिर्द की जाली व अंगार-पात्र के तल की जाली से वायु प्रवेश करती जाती है, अंगारे सुलगते रहते हैं और पानी खौलने लगता है। खौलते चाय-पानी का वाष्प टोंटी से बाहर निकलता रहता है। उबलती चाय का वाष्प जब समावार की टोंटी से नि:सृत होता रहता है तो इससे एक सुमधुर ध्वनि निकलती रहती है। अंगार-पात्र के अंगारों को बुझाना हो तो छोटे ढक्कन को बन्द कर दिया जाता है।

कश्मीर में प्राय: दो प्रकार की चाय का प्रचलन है—'शीर्य चाय'— और 'म्वॅगुल्य चाय'। दोनों प्रकार की चाय भिन्न प्रकार की पत्तियों से बनती है। 'शीर्य चाय' बनाने के लिए पहले एक-डेढ़ प्याले पानी तथा शीय चाय की पत्ती को (जिसे 'पॅहॅर्य चाय' भी कहते हैं) देर तक उबाला जाता है। पानी में पत्ती डालने के साथ ही चुटकी-भर मीठा सोडा भी डाला जाता है। काफी उबाल आने पर पानी का रंग काला हो जाता है। चाय में रंग आने पर आवश्यकता-भर पानी तथा नमक डाला जाता है। एक-दो उबाल आने पर इस में दूध मिलाया जाता है। दूध मिलाने से चाय का रंग गुलाबी हो जाता है। दूध मिलाने के बाद एक-दो उबाल आने पर चाय तैयार हो जाती है। तैयार चाय को प्यालों में उँड़ेल कर एक-दो चम्मच मलाई या मक्खन डाला जाता है। मक्खन की तह के ऊपर अखरोट की गिरियाँ कुतर कर डाली जाती हैं। कहा जाता है कि 'शीर्य चाय' एक अच्छा 'स्टीमुलेंट' और पाचन-शक्तिवर्धक पेय है।

'म्वॅगुल्य चाय' को कश्मीरी मुसलमान 'कॅहवुं' कहते हैं। 'म्वॅगुल्य चाय' की पत्ती को 'कॅहवुं चाय' या 'बमय चाय' भी कहते हैं। जितने जनों के लिए चाय बनानी हो उतने प्याले पानी समावार के चाय-पात्र में डाल कर 'कॅहवुं चाय' की पत्ती, हथेलियों से मसल कर, डाली जाती है। एक-दो उबाल आने पर स्वाद के हिसाब से चीनी, कुटी छोटी इलाइची, कुतरी बादाम-गिरी, थोड़ी दारचीनी तथा तनिक-सा केसर डाल कर 'म्वॅगुल्य चाय' तैयार हो जाती है। इस चाय में दूध नहीं पड़ता।

चाय पीने के लिए कश्मीरी पण्डित काँसे से बने प्याले का, जिसे वे 'खोस' कहते हैं, प्रयोग करते हैं। 'खोस' बनावट की दृष्टि से दो तरह के होते हैं। एक वह, जिसके पेंदे से पीतल का छल्लानुमा आधार जुड़ा होता है, और दूसरा वह, जिसके पेंदे से पीतल का, हत्थानुमा आधार जुड़ा होता है। इस प्रकार के 'खोस' को 'क्यज़ि खोस' कहा जाता है। कहा जाता है कि 'क्यज़ि खोस' में सम्माननीय एवं विशिष्ट व्यक्तियों को चाय पिलाई जाती थी। कश्मीरी मुसलमान मिट्टी या चीनी-मिट्टी से बने प्यालों में चाय पीते हैं। इन प्यालों को वे क्रमश: 'प्यालुँ' तथा 'चिन्य प्यालुँ' कहते हैं।

आजकल के ईंधन एवं ऊर्जा-संकट को देखते हुए क्या समावार का महत्त्व और भी नहीं बढ़ जाता?

गृहनौका, यानी हाउसबोट

कश्मीर के एक पर्वत-शिखर का नाम है नौबन्धन। 'नौबन्धन' यानी जिसके साथ नाव बँधी हो। पर्वतों पर झरने झरते हैं; नाव नदी, झील या समुद्र में तिरती है। फिर पर्वत-शिखर और नाव का क्या सम्बन्ध ! क्यों पड़ा इस शिखर का यह नाम? इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करता है 'नीलमत्पुराण' का यह आख्यांन — वैवस्वत मनु के समय जब जल-प्रलय हुआ तो जगज्जननी पार्वती ने एक नौका का रूप धारण किया। इस नौका का परिचालन करने के लिए इन्द्र मत्स्य बने। मत्स्य द्वारा परिचालित यह नौक चलते-चलते एक पर्वत-शिखर से जा लगी। तभी से इस शिखर का नाम नौबन्धन पड़ गया। प्रलय-जल के उतरने पर भी कश्मीर एक विशाल सरोवर बना रहा। इस सरोवर में सती नौका-विहार करती थीं, इस कारण सरोवर का नाम पड़ा सतीसर।

यह पौराणिक आख्यान इस बात की ओर सुस्पष्ट संकेत करता है कि कश्मीर और नौका का सम्बन्ध युगों-युगों से रहा है। अति प्राचीन काल से ही यातायात का मुख्य साधन रही है नौका। सुदुर अतीत को छोड़ यदि हम कुछ दशक पहले की ही बात करें तो क्या नाव यातायात का एक प्रमुख साधन नहीं थी ? श्रीनगर में कहीं जाना होता या इस शहर से दूर किसी कस्बे या गाँव में, तो क्या नौका में बैठकर यह यात्रा नहीं की जाती थी? क्षीरभवानी के पवित्र मन्दिर के दर्शन करने होते, डल-नगीन या इनके किनारों पर बने प्रसिद्ध बागों की सुषमा का आनन्द लेना होता तो क्या नावों का सहारा नहीं लिया जाता था ? ईंधन के लिए लकड़ी, राशन का सामान, घास-पुआल, मकान बनाने के लिए पत्थर-ईंट-लकड़ी आदि नावों द्वारा ही तो ढोया जाता था। झीलें, नदी-नाले नावों से भरे रहतें थे, इसीलिए हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार-कवि हरिकृष्ण प्रेमी अनायास ही कह उठे थे —

··· चंचल चाल हंस-सी—
चलतीं, नौकाएँ मस्तानी
लहरों से टकरा कर गाती —
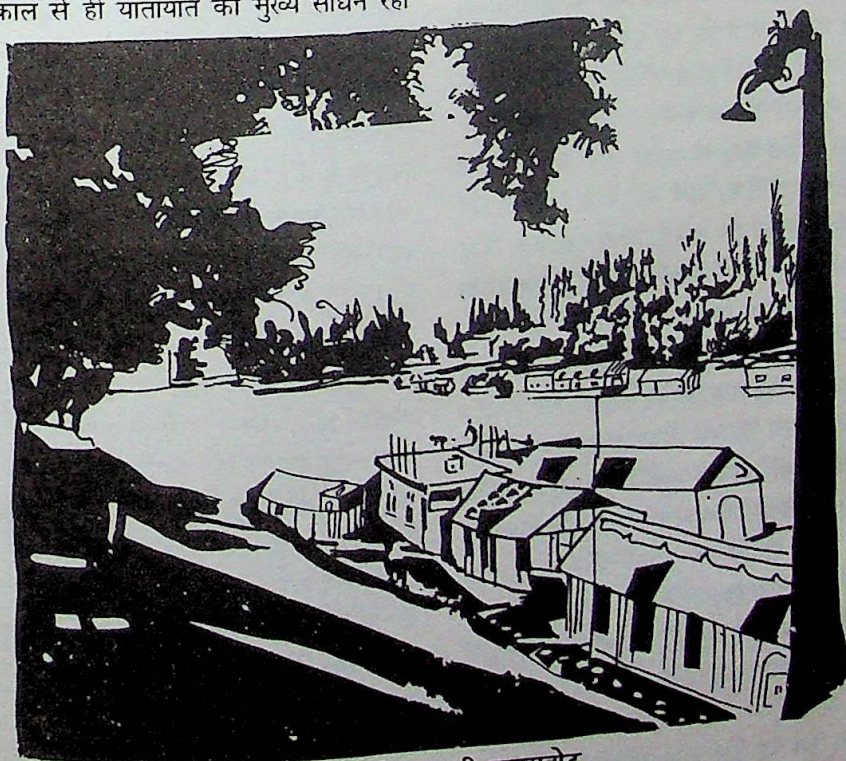
गृह-नौका यानी हाउसबोट

हैं, पतवारें गान।
यह मेरा कश्मीर कि जिसकी धरती स्वर्ग-समान।।

कश्मीर में पाई जाने वाली सभी नौकाओं के तल समतल होते हैं। यहाँ कई प्रकार की नौकाएँ मिलती हैं, जिनमें प्रमुख हैं 'बहच़', 'ख्वोंच', 'डूंगुं', 'वॉर' या 'उयबुॅवॉर', 'छटुॅशिकॉर्य', 'परन्दुॅं' तथा गृह-नौका, यानी 'हाउसबोट' आदि।

'बहच़' शब्द मूलतः संस्कृत का 'वहित' शब्द है। यही शब्द हिन्दी में 'वोहित' हो गया है। 'वोहित' शब्द एक ऐसी नाव के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें व्यापारी अपना सामान ढोते हैं। 'बहच़' भी सामान ढोने के काम ही आती है। इसके अगले और पिछले ऊँचे भागों, जिन्हें क्रमशः 'ब्रोंहनम' और 'पों तनम' कहते हैं, को छोड़ कर बाकी हिस्से पर फूस की ढलवाँ छत होती है। छत वाले भाग के सबसे पिछले हिस्से में माँझी तथा उसके परिवार के लिए दो कमरे बने होते हैं। बाक़ी हिस्सा सामान ढोने के काम में लाया जाता है। आजकल 'बहच़' को प्रायः राशन का सामान ढोने तथा वितरित करने के काम में लाया जाता है। इस प्रकार की नाव लगभग 32,000 से 40,000 किलोग्राम वज़न तक का सामान ढो सकने में समर्थ होती है।

ख्वोंच भी 'बहच़' जैसी ही नाव है। फर्क यह है कि इसके पिछवाड़े में, जहाँ माँझी और उसके परिवार के लिए कमरे बने होते हैं, ही छत होती है, शेष भाग बिना छत के ही होता है। छत न डालने का कारण यह है कि इस प्रकार की नाव में ऐसी वस्तुएँ ही ढोई जाती हैं जो बारिश या बर्फ से खराब नहीं होतीं, जैसे पत्थर, ईंटें, जलाने की या इमारती लकड़ी आदि।

डूंगुं प्रायः 50 से 60 फीट के करीब लम्बा तथा मध्य में 6 से 8 फीट तक चौड़ा होता है। आगे और पीछे (ब्रोहॅनम और पोतॅनम) थोड़ी जग़ह छोड़कर शेष भाग ढलवाँ छत से आच्छादित होता है। इसकी छत तथा दीवारें चटाई की होती हैं, पर इसके बदले शिंगल तथा लकड़ी के तख़्तों का भी प्रयोग होने लगा है। पूरा डोंगा कई कमरों में बँटा होता है। पिछवाड़े बनी रसोई तथा एक-दो कमरों में माँझी तथा उसका परिवार रहता है, शेष कमरे किराये पर दिये जाते हैं। यह नौका लम्बे सफर के लिए प्रयोग में लाई जाती थी। इसके अतिरिक्त इसका प्रयोग क्षीरभवानी तथा हज़रतबल जैसे पवित्र तीर्थस्थानों, डल झील तथा इसके किनारे पर स्थित ऐतिहासिक उद्यानों की सैर के लिए भी किया जाता रहा है। इस प्रकार की नाव वास्तव में किराये पर लेने वालों के लिए एक चल अस्थायी घर होता है, जिसका प्रयोग बड़े चाव से किया जाता रहा है।

वॉर, डेम्बुॅवॉर या हाकुॅवॉर 'बहच़' तथा 'ख्वोंच' से बहुत छोटी नाव होती है। इस पर कोई छत नहीं होती। इसे प्रायः डल झील में बने तैरते खेतों से श्रीनगर शहर के घाटों तक सब्ज़ी ढोने-बेचने के काम में लाया जाता है।

शिकॉर्य, छटुॅशिकार्य या ग़ैर-कश्मीरियों का शिकारा बहुत ही सजी-सँवरी छोटी किश्ती होती है जिसे सैलानी डल झील, नगीन तथा वितस्ता की सैर के लिए प्रयोग में लाते हैं। इस प्रकार की नावें डल झील तथा वितस्ता के घाटों पर प्रायः अपने ग्राहकों की प्रतीक्षा करती हुई पाई जाती हैं। आगे-पीछे जगह छोड़ कर बीच के भाग में चार डंडों के सहारे इस पर एक छत लगी होती है। बैठने तथा कमर टेकने के लिए स्प्रिंग वाले गद्दे व तकिये लगे होते हैं, जो रंग-बिरंगे धागों से कढ़े बिछावन से आच्छादित होते हैं। बैठने की जगह दाएँ-बाएँ सुन्दर झीने पर्दे लगे होते हैं। इस नाव में सैर करना स्वयं में एक सुन्दर अनुभव है।

परन्दुॅं एक शाही नाव है। राजे-महाराजे तथा अति विशिष्ट व्यक्ति इसमें बैठ कर अपनी शोभायात्राएँ निकलवाते रहे हैं। यह नौका आकृति में शिकारा जैसी, पर इससे बहुत लम्बी होती है। इसे तीस-चालीस माँझी एक साथ खेया करते थे। इसके ठीक मध्य भाग में एक मंच-सा बना होता है, जिसके ऊपर चंदोवा या एक विशाल सुन्दर छत्र होता है। इसी मंच पर राजे-महाराजे या अति विशिष्ट व्यक्ति बैठा करते हैं। कहा जाता है कि सिखों के शासन-काल में कश्मीर का गवर्नर दीवान कृपाराम नाम का एक व्यक्ति था। कृपाराम को 'परन्दुॅं' पर अपनी शोभायात्रा निकलवाने का बहुत ही शौक़ था। माँझियों तथा इनके बच्चों को बख्शीश देने के लिए कृपाराम की जेबें सिक्कों से भरी रहती थीं। 'परन्दुॅं' में बैठने पर इसकी जेबें खनकती रहती थीं। इसी आधार पर कश्मीर के लोगों ने इसका नाम 'कृपुॅंश्रोंन्य' रखा था।

स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू की शोभायात्राएँ 'परन्दुॅं' में बिठाकर ही निकाली गई हैं।

यूरोपीय देशों में रहने वालों, विशेषकर, अंग्रेजों ने, जब कश्मीर आना आरम्भ किया तो यहाँ उनके लिए उचित आवास की समस्या पैदा हो गई, क्योंकि महाराजा के समय में इन लोगों को मकान बनाने की आज्ञा न थी। पहले-पहल ये लोग तम्बुओं में रहे, पर शीघ्र ही इन्हें लगा कि तम्बू की अपेक्षा एक डोंगा (डूंगुं) एक अच्छा आवास सिद्ध हो सकता है और इसे मनचाही जगहों पर, बिना सामान बाँधे, खेया जा सकता है तथा इस प्रकार एक ही स्थान पर रहने की बोरियत तथा बोरिया-बिस्तर बाँधने तथा इसे नई जगह फिर सेट करने की तकलीफ से बचा जा सकता है। धीरे-धीरे डोंगों में परिवर्तन-परिवर्धन किया जाने लगा ताकि ये विदेशी पर्यटकों के रहने के अनुरूप बन सकें।

इसी परिवर्तन-परिवर्धन के परिणामस्वरूप कालान्तर में कश्मीर में गृहनौका, यानी हाउसबोट अस्तित्व में आई।

पहली हाउसबोट बनवाने का श्रेय कश्मीरी पण्डित समाज के एक सदस्य पण्डित नारायणदास' को जाता है। पण्डित नारायणदास अपने समय में काफी प्रसिद्ध रह चुके मिशन स्कूल के विद्यार्थी थे। स्कूल की पढ़ाई समाप्त करने पर इन्होंने यूरोपीय सैलानियों की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए एक भण्डार-गृह चलाना आरम्भ किया। भण्डार-गृह का काम खूब चल निकला, पर दुर्भाग्य से कुछ समय के बाद इसमें आग लग गई। भण्डार की अनेक चीज़ें जल गईं, पर जो चीज़ें नारायणदास बचा पाए उन्हें उन्होंने एक डोंगे में डाल दिया। यह इसलिए कि उन्हें अच्छी जगह पर एक अच्छी दुकान न मिल सकी। इस डोंगे को पण्डित जी ने ऐसी जगह रखा, जिस जगह विदेशी पर्यटक आसानी से सामान खरीदने के लिए आ-जा सकते थे। कुछ समय बाद नारायणदास के भाग्य ने यहाँ भी उसका साथ न दिया — वर्षा के कारण उसका सामान खराब होने लगा। इस घटना ने उसे यह सोचने पर विवश किया कि वर्षा में सामान को कैसे सुरक्षित रखा जाए। सोच-विचार के परिणामस्वरूप उसने डोंगे की चटाई वाली छत और दीवारों को शिंगल तथा लकड़ी के तख़्तों का बनवा दिया। जब इस प्रकार की नौका बनवा कर पानी में उतार दी गई तो इस सुन्दर नौका को देख कर एक अंग्रेज अफसर ने इसे अच्छे दामों में खरीदा। पण्डित नारायणदास को लगा कि भण्डार-गृह चलाने की बजाए नावें बनवा कर बेचने में अच्छा मुनाफा कमाया जा सकता है, सो उन्होंने यही काम किया। नई नावों में वे निरन्तर परिवर्तन-परिवर्धन कराते रहे और इसी के परिणामस्वरूप पहला हाउसबोट अस्तित्व में आया। नावों का निर्माण एवं व्यापार करने के कारण लोगों ने पण्डित नारायणदास का नाम ही 'नावुँनाराण' यानी नावों वाला नारायण रख दिया!

कुछ समय पश्चात सर आर. हार्वे, बार्ट और मार्टेन केनाड आदि ने पण्डित नारायणदास के हाउसबोटों के प्राकलपण में कुछ सुधार करवाये। मिस्टर मार्टेन केनाड के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने सन् 1918 में 'विक्ट्री' नाम का दुमंज़िला हाउसबोट बनवाया, जो आज तक वितस्ता में राजबाग़ वाले तट से बँधा है।

हाउसबोट देवदारु की लकड़ी से बनाये जाते हैं। यह लकड़ी पानी में निरन्तर रहने के कारण भी गलती-सड़ती नहीं। इस लकड़ी का एक और गुण है, इसकी भीनी-भीनी खुशबू। इसीलिए इस लकड़ी को हाउसबोट के लिए प्रयोग करने के बाद भी इस पर कोई रंग-रोग़न नहीं किया जाता। इसे अपने प्राकृतिक रूप में ही रहने दिया जाता है। बढ़इयों का एक विशेष वर्ग ही हाउसबोट बनाने की कला में सिद्धहस्त है। अतः इसी वर्ग के बढ़इयों से हाउसबोट बनवाया जाता है। हाउसबोट की लम्बाई पैंसठ से पचानवे फीट तक और चौड़ाई चौदह से सोलह फीट तक होती है। इसे कई कमरों जैसे बैठक, शयन-कक्ष, भोजन-कक्ष, स्नान-गृह तथा भण्डारण-कक्ष आदि में विभाजित किया जाता है। इसकी ढलुवा छत लकड़ी के खम्भों पर टिकी होती है, जिस पर टीन की चादरें लगी होती हैं। छत के एक भाग पर लकड़ी के तख्ते लगा कर समतल रखा जाता है। इस समतल हिस्से को हाउसबोट के निचले भाग से सीढ़ियों से जोड़ा जाता है। यह हाउसबोट के उचक या लाउंज के बतौर इस्तेमाल किया जाता है। लाउंज के ईर्द-गिर्द लकड़ी की बाड़ लगाई जाती है तथा तेज़ धूप से बचने के लिए छोटा-सा चन्दोवा या बड़ा छत्र लगाया जाता है। सुबह-शाम लाउंज पर बैठकर डल या वितस्ता का सौंदर्य देखने में बड़ा मज़ा आता है। हाउसबोट के कमरों के अन्दर की छत विभिन्न आकार के लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़ों को जोड़ कर बड़ी ही कारीगरी से बनाई जाती है। इस प्रकार की छत को कश्मीरी खुतुमबन्दी छत कहा जाता है। कमरों में हवा की समुचित आवाजाही रहे, इसके लिए उचित ऊँचाई पर कमरों के दाएँ-बाएँ खिड़कियाँ होती हैं। हरेक कमरे को आवश्यकतानुसार कलात्मक ढंग से सजाया-सँवारा जाता है।

बैठक या ड्राइंगरूम अन्य कमरों की तुलना में बड़ा होता है। इसके फर्श पर कश्मीरी या ईरानी कालीन बिछे होते हैं। उचित स्थान पर अखरोट की लकड़ी के सोफासेट्स, लिखने की मेज़ और कुर्सियाँ आदि करीने से लगी होती हैं। छत के साथ झाड़-फानूस लगे होते हैं, जो कलात्मक खुतुमबन्दी छत की खूबसूरती में चार चाँद लगाते हैं।

भोजन-कक्ष या डाइनिंग-रूम भी कलात्मक रंग-बिरंगे डिज़ाइनों वाले कालीनों से सजा होता है। इस कक्ष के मध्य भाग में खाने की एक बड़ी मेज़ तथा डाइनिंग चेयर्स लगी होती हैं। एक ओर शीशे लगे दरवाज़ों वाली अलमारियों में खाने की प्लेटें, जग, ग्लास आदि सजे होते हैं, दूसरी ओर फ्रिज। दीवारों पर अच्छी-अच्छी पेंटिंग्स तथा बैठक की तरह ही दरवाज़े पर कश्मीरी कारीगरों द्वारा कढ़े सुन्दर पर्दे टँगे होते हैं।

भोजन-कक्ष के साथ ही एक छोटा कमरा होता है, जिसे भण्डारण-कक्ष या पैन्ट्री के तौर पर प्रयोग में लाया जाता है। इसमें क्रॉकरी तथा खाना गर्म करने के उपकरण यथास्थान लगे होते हैं।

हर हाउसबोट के साथ ही एक डोंगा (डूंगु) होता है, जिसमें

माँझी तथा उसके परिवार के सदस्य रहते हैं। यहीं पर माँझी अपने पर्यटक किरायेदारों के लिए खाना भी पकाता है।

शयन-कक्ष यानी बेडरूम्ज़ भी कालीनों से सँवरे होते हैं। कमरे के दोनों ओर अखरोट की लकड़ी के बने पलँग लगे होते हैं। इन पलँगों पर नर्म गुदगुदा बिस्तर बिछा होता है, जिसके बेडशीट और बेड'कवर कश्मीरी कढ़ाई के सुन्दर नमूने प्रस्तुत करते हैं। दरवाज़ों और खिड़कियों पर भी इन्हीं कारीगरों द्वारा कढ़े सुन्दर पर्दे टँगे होते हैं। पलँगों के बीच में दीवार के साथ ड्रेसिंग टेबल तथा एक आदमकद दर्पण लगा होता है। हर शयनकक्ष के साथ स्नान-गृह होते हैं, जो सेनिट्री फिटिड होते हैं तथा उनमें ठण्डे और गर्म पानी का इन्तज़ाम होता है।

हर हाउसबोट में बिजली का इन्तज़ाम तो होता ही है, साथ ही जेनेरेटर सेट का प्रबन्ध भी होता है, ताकि बिजली जाने के समय पर्यटकों को कोई असुविधा न हो। आजकल हाउस बोटों में टी. वी. तथा टेलीफोन की सुविधा भी दी जाने लगी है। कुल मिलाकर हाउसबोट की सुविधाएँ किसी अच्छे होटल से अधिक हैं, क्योंकि होटल को आप मनचाही जगह पर नहीं ले जा सकते, जबकि हाउसबोट को आप झील या नदी के किसी भी मनचाहे छोर पर ले जा सकते हैं।

आज से आठ-दस साल पहले हुए एक सर्वेक्षण के अनुसार एक हज़ार के करीब हाउसबोट डल झील, नगीन झील तथा वितस्ता के जल पर शान के साथ खड़े हैं। डल झील में लगभग दो सौ दो, नगीन झील में लगभग सैंतालीस तथा वितस्ता में लगभग साढ़े सात सौ। हर हाउसबोट को अपना एक नाम दिया गया है। इनमें से कुछ नाम ऐतिहासिक हैं, जैसे ताजमहल, ड्यूक ऑफ विंडसर, क्वीन ऑफ शेबा, बकिंघम पैलेस, तैमूर, रिपब्लिक ऑफ इण्डिया तथा शेरे-कश्मीर आदि; कुछ काव्यात्मक हैं, जैसे गुलोबुलबुल, ग्रे डॉन, लालुॅज़ार तथा शबनम आदि; कुछ फूलों के नामों पर हैं, जैसे गुलरोज़, सनफ्लावर, गुलिस्तान, लिली तथा इरिस आदि; कई पक्षियों के नामों पर हैं, जैसे किंगफिशर, पीकाक तथा ब्लूबर्ड आदि और कइयों के नाम मातृभूमि, प्रान्त या प्रान्त विशेष के किसी पर्वत या बाग़ पर, जैसे मदर इण्डिया, ज्वेल ऑफ कश्मीर, हेरमुला (हरमुख), शालामार तथा पैराडाइज़ ऑफ इण्डिया आदि पर रखे गये हैं।

कश्मीर सरकार के पर्यटन विभाग ने सभी हाउसबोटों को पाँच श्रेणियों — डीलक्स, ए-क्लास, बी-क्लास, सी-क्लास तथा डी-क्लास — में विभाजित कर रखा है। हर श्रेणी के हाउसबोट का किराया, दो व्यक्तियों के खाने-पीने सहित निश्चित है।

हर हाउसबोट के साथ एक शिकारा भी होता है। इसमें बैठ कर पर्यटक नौका-विहार का आनन्द भी ले सकते हैं, हाउसबोट में रहकर पर्यटकों को बाज़ार नहीं जाना पड़ता, बल्कि बाज़ार स्वयं उनके पास आता है। वह ऐसे कि हर सुबह एक शिकारे में सुन्दर एवं रंग-बिरंगे ताज़ा फूलों के दस्ते सजाकर फूल बेचने वाले हर हाउसबोट के पास जाकर आवाज़ लगाते है — 'ताज़ा फूल साहब !' इसी प्रकार वे शिकारों में शॉल, केसर, बादाम, अखरोट तथा अन्य वस्तुएँ सजा कर पर्यटकों में बेचने के लिए आते हैं। इस प्रकार पर्यटक अपने हाउसबोट में बैठे-बैठे ही खरीदारी भी कर सकता है।

नावों को खेने वाले माँझियों के सम्बन्ध में यदि कुछ न कहा जाए तो नावों की बात अधूरी रह जाती है। माँझी, जिन्हें कश्मीरी में 'हॉन्ज़' कहा जाता है, अति प्राचीन जाति निषाद जाति से सम्बन्ध रखते हैं, पर कश्मीर में इस्लाम के प्रचार के परिणामस्वरूप यह प्राचीन जाति सबसे पहले मुसलमान बन गई। 'हॉन्ज़' बातों से सैलानियों का मन मोह लेते हैं। वार्तालाप-कला में ये माहिर होते हैं और इसी कला से सैलानियों पर अपना सिक्का जमा लेते हैं। ये पाक-कला में भी माहिर होते हैं और सामिष व्यंजन इतने लज़ीज़ पकाते हैं कि पर्यटक उँगलियाँ चाटते रहते हैं। निरामिष व्यंजन पकाने में ये सिद्धहस्त नहीं होते और वैष्णव भोजन खाने वाले इन्हें भाते भी नहीं। उन्हें ये व्यंग्य से 'छोलुॅ विज़िटर' यानी छोले खाने वाले पर्यटक कहते हैं। हालाँकि ये अधिकांशतः अनपढ़ होते हैं, पर विदेशियों के सम्पर्क तथा अपने श्रम ने इन्हें अंग्रेज़ी भी सिखाई है, हालाँकि इनकी यह अंग्रेज़ी व्याकरण से कोसों दूर होती है। इनकी इस 'स्पेशल' अंग्रेज़ी को पढ़े-लिखे लोगों ने 'हॉन्ज़ अंगरीज़्य' (माँझियों की अंग्रेज़ी) नाम दिया है। काल्पनिक किस्से गढ़ कर सुनाने, खाना पकाने, डाइनिंग टेबल को सजाने आदि के अतिरिक्त ये पर्यटकों का हर काम करते हैं। अपने इन्हीं 'गुणों' के कारण इन्होंने पर्यटकों (विशेषकर विदेशी) को बहुत प्रभावित किया है। हर माँझी के पास विदेशी पर्यटकों के दिये दर्जनों 'टेस्टिमोनियल्ज़' होते हैं।

नाव और माँझियों ने कश्मीरी भाषा को कुछ मुहावरे देकर पुष्ट किया है। माँझी चूँकि अपनी बातों से दूसरे को फँसा ही लेता है, इसी आधार पर कश्मीरी में मुहावरा बना 'नावि वालुन', अर्थात नाव में उतारना। यानी किसी को अपनी बातों में लाना। नाव को कोई खेने वाला न हो और वह धारा में कभी इधर, कभी उधर बहती चली जाए, अर्थात उसका कोई निश्चित लक्ष्य न हो, इसी को लेकर कश्मीरी का मुहावरा बना 'यीरुबुन्न नाव' यानी बिना खिवैया के धारा में भटकती किश्ती। इसी प्रकार नाव ने कई कहावतें भी कश्मीरी भाषा को दी हैं। कहा जाता

है कि किसी वासुदेव काका नाम के व्यक्ति ने नाव पर इतनी घास लाद दी कि उसे खेना मुश्किल हो गया और इस कारण उसे ठेलते-ठेलते मंज़िल की ओर ले जाना पड़ा। इसी पर एक कहावत बनी — वासुँकाकुन्य गासुँनाव दकुँ दी दी पकुँनाव। यानी वासुदेव काका की घास से लदी नौका को धक्का मार-मारकर आगे सरकाओ। एक था जानकीनाथ या जानुँ नाम का कोई व्यक्ति। वह किश्ती में सवार होकर स्वयं पानी में गिर गया, क्योंकि नाव चलाना उसे आता न था। नदी किनारे से किसी दूसरे व्यक्ति ने उसे पार उतारने के लिए कहा, इसी पर कहावत बनी—जानुँ गोमुत पानुँ आबस नाव रठतम बॉल्यये, यानी जानुँ या जानकीनाथ स्वयं पानी में गिर गया है (उसे कोई कहे कि रे भाई) नाव तट से लगाना (मैं भी इस में से उतरूँ)।

कश्मीर में नावों की अधिकता को देख कर ही हिन्दी के एक जाने-माने कवि श्री वीरेन्द्र मिश्र ने कश्मीर को 'नावों की नगरी' नाम से अभिहित किया है। वे कहते हैं —

चलो चलें फूलों की घाटी में
नावों की नगरी में।

जिस प्रकार कश्मीर से बाहर रहने वाले कवियों को कश्मीर की नावों ने प्रभावित किया है, उसी तरह स्थानीय कश्मीरी कवियों को भी यहाँ की नावों ने लुभाया है, इसीलिए इन्होंने अपनी कविताओं में नाव का ज़िक्र किया है। कश्मीरी की आदि कवयित्री लल्लेश्वरी (ललद्यद) अपने एक 'वाख' में कहती है—

आमि पनुँ स्वोँदरस नावि छस लमान
कति बोज़ि दय म्योन म्यति दियि तार।

अर्थात, मैं इस सिन्धु में की नौका को कच्चे धागे से खींच रही हूँ। मेरे प्रभु मेरी (विनय) सुनते तो मैं भी पार हो जाती।

इसी प्रकार कश्मीरी सन्त कवि परमानन्द भगवान शंकर से विनती करते हुए कहते हैं — अपने (संचित) कर्मों का फल भोगना मेरे लिए कठिन हो रहा है, जन्म-जन्मान्तर से मैं दुख भोग रहा हूँ। मेरी नैया तूफान में फँस गई है। मैं कैसे पार उतर जाऊँ —

कँठयन कर्मुफॅल प्योँमुतम्य ईश्वरुँ
ज़न्मुँ-ज़न्मुँ ज़्यथ-ज़्यथ वर्जुन वाव
वावस मंज नाव कॅह्य ॲपोर तरुँ
हरुँ हरुँ हरुँ शेवुँ शंकरुँ जी !

कश्मीरी भक्ति-काव्यधारा के आधुनिक कवि ज़िन्दा कौल 'मास्टर जी' के शब्दों में — कर यादाम लेकर पार उतारने वाला माँझी उस पार जाने वाला है। यह ऊँची आवाज़ में (सब से कहता है) रे, कोई पार जाने वाला तो नहीं? —

तरुँवुन छु करुनॉव्य
हख दिथ छु वनन
कांह मा सॉ तॅरिव अपोर ?

आधुनिक कश्मीरी काव्य को नया मोड़ देने वाले कवि पण्डित दीनानाथ 'नादिम' अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'डल हांज़ुँत्रिहुन्द ग्यवुन' (डल की माँझिन का गान) में कहते हैं —

मरचुँवांगन तुँ वांगन छि ब्योन-ब्योन
मसमलर हिव्य वांगन छि ब्योन-ब्योन
नावि मंज़ छी करान ठ्वोलुँ ठवोँलय हय
हय ठवलय हय ठवलय हय ठवलय हय!

अर्थात, अपनी किश्ती में डल के तैरते खेतों की सब्ज़ी बेचने वाली माँझिन पुकार-पुकार कर सभी गृहणियों से कहती है — मिर्चें और बैंगन अलग-अलग किस्मों के हैं। बहुत ही पुष्ट एवं ज़ायकेदार बैंगन अलग हैं। (जब मैं नाव खेती हूँ तो उस गति से) ये सारी चीज़ें आपस में टकराती हैं। अरी आ, आ जा, सब्ज़ी लेने आ !

संदर्भ

1. देखिए Keys to Kashmir, पृष्ठ 106

कश्मीरी शॉल

जाड़ों की ठण्ड का मुकाबला गर्म वस्त्र द्वारा कौन नहीं करना चाहता? यह वस्त्र यदि शरीर को ऊष्णता देने के साथ-साथ सुन्दर एवं गरिमामय हो तो क्या कहने ! इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि यदि कोई ओढ़नेवाला वस्त्र गर्म, गरिमामय एवं बाह्य व्यक्तित्व को निखारने वाला है तो वह कश्मीरी शॉल से बेहतर कोई हो ही नहीं सकता। इस विशिष्ट वस्त्र को पवित्रता के प्रतीक के रूप में भी बहुत पहले से ही मान्यता प्राप्त है। हमारे देश के महान सन्त हज़रत मुइनुद्दीन चिश्ती कश्मीरी शॉल ओढ़ा करते थे तथा इसे बहुत पसन्द किया करते थे। अबुल फ़ज़ल ने लिखा है कि अक़बर महान ने जब दीने-इलाही के सिद्धान्तों का प्रचार किया तो कश्मीरी शॉल ओढ़ कर ही किया। कहने का तात्पर्य यह है कि कश्मीरी शॉल के साथ सुन्दरता एवं कलात्मकता के साथ-साथ शालीनता एवं पवित्रता भी युगों से नत्थी है। महाराज रणजीत सिंह ने भी अपने लिए एक कश्मीरी कारीगर से एक शॉल बनवाया था। इस कारीगर के काम की सफाई और कढ़ाई में सन्निहित कला की उत्कृष्टता को देखकर उसे पाँच हज़ार रुपए पारितोषिक के रूप में दिये थे।

कश्मीर में शॉलों का निर्माण प्राचीन काल से ही आरम्भ हुआ था। कहा जाता है कि रामायण-महाभारत काल में भी यहाँ शॉल बनते थे और उस समय भी ये शालीन एवं कलात्मक परिधान होने के कारण काफी लोकप्रियता अर्जित कर चुके थे — तभी तो महाराजा जनक ने अपनी पुत्री सीता जी को उनके विवाह पर अनेक अमूल्य उपहारों के साथ शॉल भी दिये थे। यह भी कहा जाता है कि कौरवों ने पाण्डवों को लगभग दस हज़ार शॉल भेंट में दिये थे। श्रीनगर (कश्मीर) के निकट स्थित हारवन नामक स्थान पर खुदाई के बाद कुछ प्लेटें भी मिली हैं। इन प्लेटों पर महिला आकृतियाँ अंकित हैं। इन महिलाओं को कढ़े शॉल ओढ़े दिखाया गया है। हारवन-संस्कृति विद्वानों के मतानुसार लगभग ईसा पूर्व दो हज़ार वर्ष पुरानी संस्कृति है। इसका अर्थ यह हुआ कि दो हज़ार वर्ष ईसा पूर्व से पहले भी कश्मीर में शॉलों का निर्माण होता था और इन्हें बड़े चाव से ओढ़ा जाता था। कहा जाता है कि सातवीं शताब्दी ईस्वी में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग कश्मीर आये थे। इस यात्री ने भी कश्मीर के बारे में बताया है कि यहाँ नर्म और बारीक ऊन के धागों से कपड़ा बुना जाता था। यह कपड़ा निश्चय ही शॉलों का कपड़ा रहा होगा। निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि कश्मीर में शॉल बनाने एवं इस पर कढ़ाई करने का काम प्राचीन काल से ही चलता आ रहा है। हाँ, समय की गति के साथ इस काम में उतार-चढ़ाव अवश्य आये होंगे।

कश्मीरी शॉल रफल और पश्मीना ऊन से बुने जाते हैं। रफल की अपेक्षा पश्मीना अधिक नर्म और ऊष्णता देने वाला होता है। अनेक विशेषज्ञों का मत है कि पश्मीना की बुनाई के लिए कश्मीर की जलवायु बहुत ही उपयुक्त है। इस सम्बन्ध में एक यूरोपीय यात्री बर्नियर का भी मत है कि कश्मीरी शॉल की अतीव सुन्दरता का रहस्य डल झील का पानी है। ऐसा पानी संसार में और कहीं भी उपलब्ध नहीं है। निश्चय ही डल झील के पानी में ऐसे खनिज एवं रासायनिक तत्त्व होंगे जो इसके जल से पश्मीना की धुलाई करने पर इसे और भी सुन्दर तथा उपयुक्त बनाते होंगे। जो भी हो; शॉलों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है — ज़नाना शॉल और मर्दाना शॉल। ज़नाना शॉल दो गज़ × एक गज़ यानी छह फुट × तीन फुट तथा मर्दाना शॉल तीन गज़ × डेढ़ गज़ यानी नौ फुट × साढ़े चार फुट लम्बाई-चौड़ाई के होते हैं। ये बिना कढ़ाई के भी होते हैं और कढ़ाई वाले भी। कढ़े शॉलों पर कम कढ़ाई भी होती और अधिक भी।

कढ़ाई के लिहाज़ से शॉलों को अलग-अलग नाम दिये गये हैं। इन नामों की चर्चा करने से पहले थोड़ा-बहुत कढ़ाई के बारे में जानना आवश्यक है। कढ़ाई दो तरह से की जाती है। एक सूई से और दूसरी 'ऑर' से। 'ऑर' क्रोशिया-सा नोक वाला एक औज़ार होता है जो छोटे आकार का भी होता है और बड़े आकार का भी। सूई से की गई कढ़ाई को कश्मीरी कारीगर 'सोज़नकारी' कहते हैं। सोज़नकारी रफल और पश्मीना दोनों तरह के कपड़ों के शॉलों पर की जाती है। पर 'ऑर' से केवल रफल के कपड़ों के शॉलों पर ही कढ़ाई की जाती है। सोज़नकारी 'ऑर' से की गई कढ़ाई से बहुत ही महीन, उम्दा और अधिक समय लेने वाली होती है। सोज़नकारी में जो धागे प्रयोग में लाये जाते हैं वे भी बहुत बारीक होते हैं। इस प्रकार की कढ़ाई रेश्मी-सूती (विशेष प्रकार के) रंगीन धागों के अतिरिक्त ज़री से भी की जाती है। जो कढ़ाई ज़री से की

जाती है, उसे 'ज़रदोज़ी' कहते हैं। ज़रदोज़ी केवल महिलाओं द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले वस्त्रों पर ही की जाती है। ज़रदोज़ी अधिकतर पश्मीना शॉलों पर ही करने का रिवाज है।

किसी भी शॉल पर कढ़ाई करने से पहले उस डिज़ाइन का छापा डाला जाता है, जिस डिज़ाइन को उस शॉल पर काढ़ना हो। ये छापे कागज़ के स्टेनसिलों से डाले जाते हैं। डिज़ाइन विभिन्न ज्योमितीय आकारों के भी होते हैं और कश्मीर में पाये जाने वाले फूल-पत्तों आदि के भी। शॉलों पर प्राय: चिनार के पत्तों, बादाम तथा विभिन्न प्रकार के फूलों के छापे ही डाले जाते हैं। फूलों को जब सोज़नकारी से उभारा जाता है तो ये अत्यन्त सुन्दर एवं कलात्मक बन जाते हैं। कढ़ाई करते समय कढ़ाई करने वाला कलाकार इनमें अपनी भावनाओं का रंग भी भरता है। शॉलों या अन्य परिधानों पर फूल काढ़ने की प्रक्रिया को स्थानीय भाषा में 'गुलकारी' कहते हैं।

जिस शॉल पर केवल दो छोरों पर ही कढ़ाई की गई हो उसे 'पलुँदार शॉल', जिसके चारों छोरों पर कढ़ाई की गई हो उसे 'दोरिशॉल' कहते हैं। इस प्रकार के शॉलों पर प्राय: चिनार के पत्ते या बादाम काढ़े जाते हैं, इस कारण इन्हें क्रमश: 'चिनारदोर' और 'बादामदोर' भी कहा जाता है। कई शॉलों के बीच-बीच में भी कढ़ाई की जाती है। इस प्रकार के शॉलों को 'बूटीदार' शॉल कहते हैं। कई शॉलों पर पूरी और सघन कढ़ाई की जाती है। ऐसे शॉल 'जामवार' या 'जामुँ' कहलाते हैं। ऐसी कढ़ाई छह इंच × तीन फुट कपड़े की लीरों पर भी की जाती है, जिन्हें बाद में शॉल के पल्लुओं के साथ सिलाई करके जोड़ा जाता है। इस प्रकार की कढ़ी लीरों को भी 'जामवार' कहा जाता है। पश्मीना शॉलों पर बहुत ही बारीक और सघन तथा रफल शॉलों पर मोटी कढ़ाई की जाती है। बारीक और सघन कढ़ाई को 'रेज़गॉर्य' तथा मोटी कढ़ाई को 'वटुँचिकन' कहा जाता है। रेज़गॉर्य वाले शॉलों पर दोनों ओर कढ़ाई होने पर इन्हें 'दुर्वोखॅ शॉल', यानी दोनों ओर से ओढ़ा जा सकने वाला शॉल कहते हैं। कहा जाता है कि 'दुर्वोखॅ शॉल' महाराजा गुलाब सिंह (सन् 1864 ई.) ने बनवाया था। जनश्रुति के अनुसार यह शॉल अज़ीज़ पण्डित तथा मुस्तफा पण्डित नामक दो कलाकारों ने मिल कर बनाया था।

कश्मीरी शॉलों की माँग देश में ही नहीं, विदेशों में भी बढ़ती जा रही है। कश्मीर से लाखों रुपयें के शॉल प्रति वर्ष निर्यात किये जाते हैं जिससे काफी विदेशी मुद्रा अर्जित की जाती है। कहा जाता है कि कश्मीरी शॉल यूरोपीय देशों में लोकप्रिय बनाने का श्रेय नेपोलियन की पत्नी जोज़फीन को भी है, क्योंकि कश्मीरी शॉल उसके हाथों में पहुँचने के बाद ही लोगों की दृष्टि में आ गया। वैसे मुग़लों तथा अफ़गानों के दौर में भी कश्मीरी शॉल-निर्माण-कला का काफी विकास हुआ और इसे अन्तर्राष्ट्रीय मण्डियों में पहुँचाने का सफल प्रयास किया गया।

फ्यरन

भारत ही नहीं, अपितु संसार-भर की महिलाओं में आजकल एक परिधान बहुत ही लोकप्रिय होता जा रहा है। यह परिधान 'फ्यरन' या ग़ैर-कश्मीरियों का 'फिरन' है। सर्दी का मौसम आरम्भ होते ही हर शहर, क़स्बे या गाँव के बाज़ार में शो केसों या दुकानों के बाहर अपनी गरिमा के साथ मॉडलों को शान बख्शते या हैंगरों में लटके ग्राहकों को निमन्त्रण देते-से ये विद्यमान रहते हैं। घरों, कार्यालयों और सड़कों पर इस मौसम में 'फ्यरन' पहने अंगनाएँ नज़र आती हैं। आइए, महिलाओं में प्रिय होते इस परिधान के अतीत और वर्तमान पर दृष्टि डालें।

'फ्यरन' कश्मीरी पहनावा है और इसे विशुद्ध कश्मीरी बुद्धि की ही उपज माना जाता है। कश्मीरियों ने यह पहनावा कब से पहनना शुरू किया, इस प्रश्न का निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता, परन्तु यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि 'फ्यरन' का पहला रूप कई शताब्दियों ईसा पूर्व अस्तित्व में आया था। इस अनुमान का आधार नई दिल्ली स्थित राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित एक कांस्य मूर्ति है। यह कांस्य मूर्ति सूर्य देवता की है, जिसे छठी शताब्दी ईसा पूर्व एक कश्मीरी शिल्पकार ने बनाया है। इस मूर्ति का परिधान 'फ्यरन' के बिल्कुल निकट है, अतः सहज ही अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि कश्मीर में 'फ्यरन' पहनने का प्रचलन छठी शताब्दी ईसा पूर्व से हुआ होगा।

'फ्यरन' के अस्तित्व में आने के बारे में पूछताछ के दौरान मुझे कई वयोवृद्ध कश्मीरियों ने बताया कि 'फ्यरन' अकबर बादशाह के समय (सन् 1556-1605) से प्रचलन में आया है। इस विषय में उनका तर्क है कि कश्मीरी जनता ने अकबर बादशाह के एक सेनानी कासिम खाँ का बहुत विरोध किया था। इस विरोध से अकबर कश्मीरियों के प्रति काफी क्रुद्ध हुए; तथा कश्मीरवासियों को अपमानित करने की गरज़ से 'फ्यरन' पहनने के लिए विवश किया, क्योंकि यह एक ढीला-ढाला एवं ज़नाना पोशाक है। मुझे यह बात बहुत ही हास्यास्पद लगती है। यदि सम्राट अकबर चाहते तो कश्मीरियों को और कोई सख़्त सज़ा दे सकते थे। अगर मान भी लें कि 'फ्यरन' ज़नाना पोशाक है और अकबर ने कश्मीरी पुरुषों को अपमानित करने के लिए इसे पहनने के लिए मजबूर किया तो इससे यही सिद्ध होता है कि 'फ्यरन' का अस्तित्व अकबर से पहले था। ऐसा लगता है कि कश्मीर की हर वस्तु को एक विशेष सम्प्रदाय की देन बताने वालों ने ही ऐसी बेसिर-पैर की बातें फैलाई हैं, जिनका प्रमाण कहीं से भी नहीं मिलता।

कश्मीर चूँकि एक ठण्डा क्षेत्र है, अतः यहाँ शरीर को ठण्ड से बचाने के लिए एक ऐसे परिधान की आवश्यकता महसूस की गई होगी जो गले से टखनों तक शरीर को ढक कर गर्म रखने में सहायक हो सके तथा इसमें ही हाथ-पैरों को सिकोड़ कर रखा जा सके, ताकि शरीर की ऊष्मा बनी रहे। इसी आवश्यकता ने कश्मीरवासियों से एक ऐसे वस्त्र का आविष्कार करवाया होगा जो बाद में 'फ्यरन' के नाम से जाना जाने लगा। 'फ्यरन' एक ढीला कुर्तानुमा चोगा-सा है जो टखनों तक लम्बा होता है। सर्दियों में ऊनी तथा गर्मियों में सूती कपड़े का 'फ्यरन' पहना जाता है। 'फ्यरन' के नीचे, इसी के माप एवं काट का सफेद सूती वस्त्र भी पहना जाता है जिसे 'पोछ़' कहा जाता है। 'पोछ़' सफेद खद्दर या लट्ठे का बनाया जाता है। इसके साथ 'फ्यरन' अधिक गर्मी देने वाला पहनावा बन जाता है। 'पोछ़' 'फ्यरन' के लिए अस्तर, यानी 'लाइनिंग' का काम भी करता है।

'फ्यरन' संस्कृत शब्द 'परिधान' का बिगड़ा हुआ रूप है। 'परिधान' शब्द कालान्तर में 'परिहान' बना होगा, क्योंकि हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण है जहाँ 'ध' 'ह' वर्ण में परिवर्तित हुआ है। उदाहरण के लिए संस्कृत शब्द 'वधू' लिया जा सकता है जो कालान्तर में हिन्दी का 'बहू' शब्द बन गया। इसी तरह के परिवर्तनों से गुज़रते हुए संस्कृत शब्द 'परिधान' परिहान → परहन → पैरहन तथा 'फ्यरन' (कश्मीरी का) बन गया होगा।[1] 'पोछ़' का सम्बन्ध पिशाचों से है। पिशाच पशुओं का शिकार करते थे तथा उनकी खाल 'पोस्त' पहन लिया करते थे। यही 'पोस्त' शब्द ज़बान से ज़बान तक का सफर करते हुए 'पोस' (जैसे कश्मीरी का मुहावरा 'पोस वालुन', यानी खाल उतारना) और 'पोस' से 'पोछ़' बन गया।[2]

'फ्यरन' कश्मीरी पुरुष तथा कश्मीरी महिला दोनों का पहनावा है। दोनों के फ्यरनों में यदि कोई भिन्नता है तो वह काट और सजावट की है। कश्मीरी पण्डितों तथा कश्मीरी मुसलमानों के फ्यरनों में थोड़ा-बहुत अन्तर होता था, पर समय बीतने के साथ-साथ यह अन्तर समाप्त हो गया है।

मर्दाना फ्यरन का पहला-पहला रूप निश्चय ही राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में की सूर्य-मूर्ति के परिधान जैसा रहा होगा; क्योंकि इसके गले की बनावट तथा कश्मीरी पण्डितों द्वारा पहले पहने जाने वाले फ्यरन के गले की बनावट काफी मिलती-जुलती है। आज से लगभग छह-सात दशक पहले तक जो फ्यरन कश्मीरी पण्डितों द्वारा पहना जाता था वह टखनों तक लम्बा होता था, उसके आस्तीन तंग तथा काफी लम्बे होते थे तथा पोछ़ के आस्तीनों के साथ दो-तीन बार ऊपर की ओर मुड़े रहते थे। ऊपर मुड़े रहने के बावजूद इन आस्तीनों को बाँह अन्दर करके प्रतिकूल कन्धे पर लटकाया जा सकता था। इसका गला गोल (अँगरखा की तरह) तनी वाला होता था। इसमें दाईं ओर (कुर्ते की तरह) एक जेब होती थी। नीचे दामन में दाईं-बाईं ओर चाक (स्लिट्स) रहते थे। इसके गले, जेब के चाक (जहाँ से जेब में हाथ डाला जाता है) तथा दामन एवं दामन के दोनों चाकों के साथ-साथ तस्मा (लेस) सिलाई करके लगाया जाता था। मुस्लिम पुरुषों के फ्यरन घुटनों से ज़रा नीचे तक की लम्बाई वाले तथा कम लम्बे-चौड़े आस्तीनों के हुआ करते थे। कश्मीरी पण्डित प्रायः सफेद रफल, पट्टू तथा अल्पाक नामक कपड़े से सिले फ्यरन तथा लट्ठे के पोछ़ पहना करते थे। पट्टू के सिले फ्यरन को कश्मीरी पण्डित 'पॅट्य फ्यरन' तथा कश्मीरी मुसलमान 'मुनुल' कहते हैं।

कश्मीरी पण्डित महिलाओं के फ्यरन का गला पीपल के पत्ते की शक्ल में काटा जाता है। इसकी जेब बाईं ओर होती है। इसके दामन के दाएँ-बाएँ चाक (स्लिट्स) नहीं होते। इसके गले, जेब तथा दामन के इर्द-गिर्द लाल या गुलाबी रंग की, डेढ़ इंच के लगभग चौड़ी पट्टी सिलाई करके लगाई जाती है। इस पट्टी को कश्मीरी में 'डूर' कहते हैं। 'डूर' विशेष रूप से फ्यरन के लिए ही बुनी जाती है। इन ज़नाना फ्यरनों के आस्तीन चौड़े तथा बाँह की लम्बाई से अधिक लम्बे होते हैं। ये आस्तीन 'पोछ़' के आस्तीनों सहित लगभग तीन-सवा तीन इंच चौड़ाई में दो-तीन बार ऊपर की ओर मोड़े जाते हैं। मुड़े हुए भाग के ऊपरी हिस्से के इर्द-गिर्द दो-ढाई इंच चौड़ी पट्टी, जिसे बीच से अन्दर की ओर मोड़-मोड़ कर लगभग एक-डेढ़ इंच का कर दिया जाता है, कलात्मक ढंग से कच्ची सिलाई करके लगाया जाता है। आस्तीनों के मुड़े भागों के ऊपरी छोरों के साथ-साथ लगाई जाने वाली छपी (प्रिंटिड) कपड़े की इस पट्टी

कश्मीरी फ्यरन
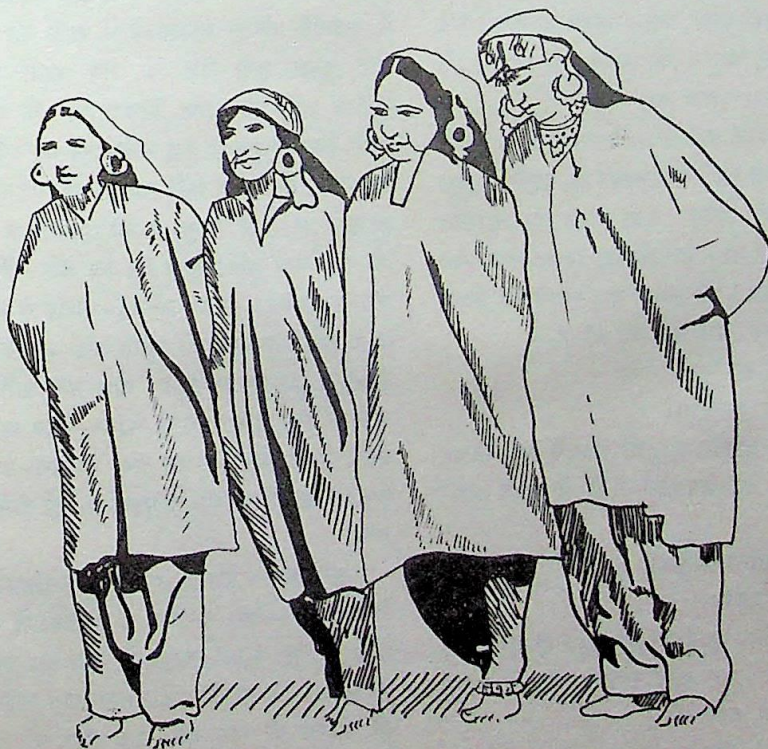
को 'नॅर्यवार' कहते हैं। 'नॅर्यवार' केवल सधवाओं के आस्तीनों पर ही लगाये जाते हैं। महँगे कपड़ों जैसे पश्मीना, रफल आदि से सिले फ्यरनों के आस्तीनों पर ज़री या जामवार के 'नॅर्यवार' लगाये जाते हैं।

कश्मीरी मुस्लिम औरतों के फ्यरन लम्बाई में छोटे तथा कम लम्बे-चौड़े आस्तीनों के होते हैं। प्राय: ग़रीब मुस्लिम औरतें 'पोछ़' के बिना ही फ्यरन पहनती हैं। इनके फ्यरन-पोछ़ के आस्तीन बाँह की लम्बाई के ही होते हैं। अत: ये इन्हें मोड़ कर नहीं रखते। कुलीन मुस्लिम औरतों के फ्यरनों के आस्तीन को, जो बाँह की लम्बाई से अधिक होते हैं, बाँह की लम्बाई से अधिक भाग को एक तह में हथेली की ओर से मोड़ कर बन्द किया जाता है और इसी ओर मुड़े छोर के तनिक आगे एक काट (कट) लगायी जाती है। महिला इसी काट से अपना हाथ निकाल सकती है। इस प्रकार के आस्तीनों वाले फ्यरन को 'क्वछ़बुॅ' कहते हैं।

वृद्ध महिलाएँ सर्दी के महीनों में अपने शरीर को गर्म रखने के लिए फ्यरन के नीचे रूई-भरा फ्यरन पहनती हैं। इसे 'फंब फ्यरन' कहा जाता है। इस प्रकार के फ्यरन का रिवाज़ अब समाप्त हो गया है। देश के अन्य भागों में जिस प्रकार नई-नवेली दुल्हनें घूँघट काढ़ती हैं, उसी प्रकार फ्यरन पहनने वाली कश्मीरी दुल्हनें अपने मुखमण्डल को 'फ्यरन' के आस्तीन की ओट करती थीं। इसे 'न्वॉर द्युन' कहा जाता था।

लड़की की शादी पर मैके वाले दाज-दहेज में अन्य कपड़ों के साथ मूल्यवान फ्यरन भी रखते थे। लड़की को शादी पर दिये जाने वाले इन कपड़ों को 'वर्दन' कहा जाता है। कश्मीरी 'वनवुॅन' में (ब्याह-शादियों पर महिलाओं द्वारा विशेष ताल-लय में गाये जाने वाले लोकगीत) भी अनेक बार फ्यरन का जिक्र आता है। कुछेक उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

वर्दनस चॉनिस स्वनुॅसुन्य नॅरिये
वोॅपिये यछ़िनय छावोनुय।

अर्थात, री रजतवर्णी दुल्हनिया, तुम्हें दाज में दिये जा रहे फ्यरनों एवं अन्य वस्त्रों के आस्तीन सोने के हैं। ये कपड़े तुम्हारे लिए शुभ हों !

सुॅचन सुविथ ॲन्य अतुॅलासुॅ दुतुॅये[3]
रुतये - रुतये प्रावेहम ।।

यानी, दर्ज़ी तुम्हारे लिए मूल्यवान एवं बहुत ही नर्म कपड़े का फ्यरन सी कर लाया, प्रभु तुम्हें सदा सुखी एवं प्रसन्न रखे — तुम सौभाग्यवती बनी रहो !

लड़की की शादी पर ननिहाल वाले लड़की तथा उसके माता-पिता के लिए कपड़े तथा अन्य सौगात लाते हैं। इस रस्म को 'दुरिबतु' कहते हैं। इसी सन्दर्भ में 'वनवुॅन' का एक टुकड़ा है जिसका अर्थ है — री दुल्हनिया, तुम्हारे मामा तुम्हारे लिए पश्मीने का फ्यरन भेंट में लाये हैं। इन्होंने यह सब इसलिए किया कि इनके मन में तुम्हारे लिए असीम प्यार है —

मामुॅलाल ह्यथ ओय फ्यरन पश्मीनुक
सीनुक लोल छुस ग्रायि मारान।

इसी प्रकार दुल्हे के ससुराल पहुँचने पर वहाँ की महिलाएँ दूल्हे के फ्यरन की इस प्रकार तारीफ करती हैं—

रफली फ्यरनस दोव वोॅपुॅसुन्दुॅये
आव मॉर्यमोॅन्दुॅये गाह त्रावान।

अर्थात, दूल्हे राजा बहुत आभामय एवं सुन्दर हैं। इनके रफल के फ्यरन में चाँदी का तस्मा लगा है।

फ्यरन चूँकि काफी ढीला होता है, अत: इसके अन्दर कांगड़ी को आसानी से लिया जा सकता है। यदि कहा जाए कि फ्यरन के बिना कांगड़ी समुचित गर्मी देने में असमर्थ रहेगी तो इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती।

फ्यरन के इतिहास में एक ऐसा भी दौर आया जब कश्मीरी पण्डिताइनों में इसके विरुद्ध एक आन्दोलन छेड़ा गया। इस आन्दोलन के कर्णधार थे पण्डित कश्यप बन्धु। पण्डित जी ने कश्मीरी पण्डित महिलाओं में साड़ी का खूब प्रचार किया। इसी प्रचार तथा देश के शेष भागों से, यातायात की सुविधा आदि के कारण, निकट आने के कारण पुराने विचारों वाली इक्की-दुक्की वृद्ध महिलाओं को छोड़ कर पुरानी शैली का फ्यरन आजकल कोई महिला नहीं पहनती। साड़ी लोकप्रिय तो हुई, पर जाड़ों में फ्यरन की उपयोगिता ने इसके अस्तित्व को भी बनाये रखा। हुआ यह कि धीरे-धीरे फ्यरन के रूप में परिवर्तन आया। इसकी लम्बाई-चौड़ाई में तनिक फर्क आया। लम्बे-तंग आस्तीनों की जगह बाँह की लम्बाई के तथा खुले आस्तीनों का प्रचलन हुआ। गोल तनी वाले गले के स्थान पर कुर्ते के जैसे गले वाला या कॉलर-ज़िप या बटन वाला फ्यरन बनने लगा। हिन्दू-फ्यरन तथा मुस्लिम-फ्यरन का भेद मिट गया। महिलाएँ भी घरों में पुरुषों के नई शैली के फ्यरन पहनने लगीं।

इसी दौरान देश के विभिन्न सिनेमाघरों में एक चलचित्र दिखाया गया। इस चलचित्र में नायिका ने कश्मीरी फ्यरन की काट में थोड़ा सुधार करवा के तथा इस पर कढ़ाई करवा के पहना था। इस चलचित्र के प्रभावस्वरूप महिलाओं ने इस प्रकार के फ्यरनों के माँग की। इस माँग को देखते हुए कश्मीरी कारीगरों ने इस तरह के फ्यरन बनाने आरम्भ किये। कुछ समय तक इस तरह के फ्यरन को 'नूरीफ्यरन' के नाम से पुकारा

जाने लगा था, क्योंकि उक्त चलचित्र की नायिका का नाम उस फिल्म में नूरी ही था। तब से अब तक फ्यरन में कढ़ाई आदि की दृष्टि से काफी सुधार हुआ और आने वाले समय में और सुधार होने की सम्भावना है। आजकल इन (महिलाओं द्वारा पहने जाने वाले) फ्यरनों के गले, आस्तीनों के छोरों, दामन पर चाकों के साथ-साथ तथा जेबों के इर्द-गिर्द कढ़ाई होती है। इन फ्यरनों में दाएँ-बाएँ दोनों ओर जेबें होती हैं।

आजकल फ्यरन ट्वीड़, ब्लेज़र, रफ़ल तथा पश्मीना आदि के बनते हैं। कश्मीरी कारीगरों के सधे हाथ अपनी कढ़ाई द्वारा इनकी सुन्दरता में चार चाँद लगा देते हैं। आजकल भारत ही नहीं, विश्व-भर की महिलाएँ फ्यरन को फैशन के तौर पर अपना रही हैं। महिलाएँ कार्यालयों, सार्वजनिक स्थानों तथा पार्टियों आदि में फ्यरन पहन कर बड़े चाव से जाती हैं।

ज़नाना फ्यरन काफी प्रसार और प्रसिद्धि पा रहा है। अब देखना यह है कि मर्दाना फ्यरन इस दौड़ में किस स्थान पर रहेगा। फ्यरन उद्योग को यदि समुचित प्रोत्साहन मिलता रहे तो यह हमारे देश के लिए अच्छी-खासी विदेशी मुद्रा कमा सकता है।

संदर्भ

1. कश्मीरी कोषकार एवं संस्कृत विद्वान डॉ. बद्रीनाथ कल्ला से 'फ्यरन' शब्द की उत्पत्ति पर बातचीत का सारांश।
2. 'आज भी कश्मीरी फिरन का अन्दरूनी हल्का सूती फिरन, यानी पोछ़ पहनते हैं। पोछ़ तो पशुचर्म का ही पर्यायवाची है, इसका सीधा सम्बन्ध पिशाचों से है।'

   —— पण्डित मोतीलाल ज़ाडू 'नीलजा-3' में प्रकाशित 'पिशाच कौन थे? नामक लेख से।
3. 'दुतय' (कश्मीरी शब्द) फ्यरन बनाने के लिए जितना कपड़ा आवश्यक होता है, उतना।

महिलाओं की शिरोभूषा

नगाधिराज हिमालय के पाँचों भागों[1] की आधी दुनिया अपने-अपने ढंग से सिर को ढँक लेती हैं। कूर्मांचल (कुमाऊँ) तथा केदारखण्ड यानी गढ़वाल में महिलाएँ सिर पर साफा-सा बाँध लेती हैं, जिसे वहाँ की बोली में 'साँपा' या 'जुल्खा' कहते हैं। हिमाचल में महिलाएँ सिर पर दुपट्टा ओढ़कर इसके सामने के दो छोरों को पीछे ले जाकर गर्दन के ज़रा ऊपर बाँध लेती हैं। जम्मू-कश्मीर के लद्दाख क्षेत्र में महिलाएँ 'पेराख' तथा घाटी में 'कसाबुं' तथा 'तरुंन्गुं' महिलाओं की शिरोभूषा है।

'कसाबुं' कश्मीरी मुस्लिम महिलाओं तथा 'तरुंन्गुं' कश्मीरी पण्डित महिलाओं की शिरोभूषा है। यहाँ हम कश्मीरी पण्डित महिलाओं की शिरोभूषा की विस्तार से चर्चा करना चाहेंगे। 'तरुंन्गुं' एक ऐसी शिरोभूषा है जिसे केवल विवाहिता कश्मीरी पण्डित महिलाएँ पहनती हैं। आज से कई दशक पहले यह कश्मीरी पण्डित महिलाओं के पहनावे का एक अनिवार्य अंग था, पर अब साड़ी के प्रचलन ने इसे किनारे कर दिया है। अब यह शिरोभूषा कई वयोवृद्ध (अधिकतर ग्रामीण) महिलाओं तक ही सीमित रह गई है। पर ऐसा होने से इस शिरोभूषा का महत्त्व कम नहीं हुआ है। आजकल भी कन्या के विवाह-संस्कार के समय सप्तपदी से पहले कन्या को 'तरुंन्गुं' बँधवाया जाता है और यह रस्म शादी की एक अनिवार्य रस्म है। सिर पर 'तरुंन्गुं' धारण करके ही नववधू ससुराल जाती है। सप्तपदी के बाद कन्या को मैके की ओर से जो दाय मिलता है, उसमें वरपक्ष की निकट सम्बन्धी महिलाओं के लिए एक-एक 'कलुंवॅल्युन' अवश्य रखा जाता था। 'कलुंवॅल्युन' शब्द का अर्थ है 'सिर को आच्छादित करने वाली वस्तुएँ', यानी 'तरुंन्गुं' का सामान। आजकल शादियों पर लड़की वाले 'तरुंन्गुं' का सामान न देकर साड़ियाँ या शॉल या कोई-कोई दोनों वस्तुएँ दे देते हैं; पर, आजकल भी इन्हें 'कलुंवॅलिन्य दोति' या 'कलुंवॅलिन्य शॉल' के नाम से ही अभिहित किया जाता है।

जब नववधू पहली बार ससुराल में प्रवेश करती है तो उसकी बुआ सास उसके 'तरुंन्गुं' के ऊपर लपेटी गई ज़रदोज़ी के कपड़े की पट्टी उतार देती है। इस रस्म को 'तरुंन्गुं फिरुन' कहते हैं। स्मरण रहे नववधू के 'तरुंन्गुं' के ऊपर मैके वाले ज़रदोज़ी के कपड़े की एक पट्टी बाँधे रखते हैं, जिसे 'बॅन्ध' कहते हैं।

'कलुंवल्युन' की वस्तुओं एवं 'तरुंन्गुं बाँधने की विधि का संक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न निम्न पंक्तियों में किया जा रहा हैं —

1. कलपुश : यह एक विशेष प्रकार की गोल टोपी है, जिसके दो भाग होते हैं – पहला भाग वह जो कपाल के ठीक ऊपर आता है जो ज़रबफ्त को गर्म कपड़े का अस्तर देकर बना होता है; दूसरा भाग वह जो ज़रबफ्त के साथ सिला होता है। यह लाल या गुलाबी रंग के रफ़ल या लाल या गुलाबी रंग के पश्मीना का होता है। यह भाग लम्बा होता है — इतना लम्बा कि 'कलपुश' पहनने पर यह पहनने वाली की चिबुक तक आ जाए।

'तरुंन्गुं' बाँधने में सिद्धहस्त महिला सर्वप्रथम 'तरुंन्गुं' बँधवाने वाली महिला को 'कलपुश' पहनाती है। इसे पहनाकर वह रफ़ल या पश्मीने वाले हिस्से को, माथे के ऊपर वाले हिस्से को बीच में उठा-उठा कर, एक के बाद एक, कई मोड़ ऐसे देती है कि सभी मोड़ों का तनिक-सा भाग दिखे। इस प्रकार मोड़ने के बाद रंगीन हिस्से की चौड़ाई लगभग दो-सवा दो इंच रह जाती है। इसके पश्चात् पीछे वेणी की ओर, 'कलपुश' के रंगीन हिस्से के अन्दर तनिक कपड़ा ठूँसा जाता है ताकि 'तरुंन्गुं' ज़रा खुला रहे, जिससे उसे उतारने-पहनने में कोई दिक्कत न हो। कपड़ा ठूँसने के बाद कोई भी यदि 'कलपुश' सिर के अनुपात में ज्यादा खुला लगे तो इसे वांछित माप का बनाने के लिए पीछे की ओर ही दाएँ-बाएँ से समेट कर कच्ची सिलाई कर सिया जाता है। इस सारी प्रक्रिया को 'कलपुश बेहनावुन' यानी 'कलपुश बिठाना' कहते हैं।

2. ज़ूज्य : यह लगभग आध-पौन मीटर सफेद बारीक जाली के कपड़े से बनाई जाती है। इसकी कटाई-सिलाई ऐसे की गई होती है कि यह किसी सीमा तक स्कूटर-कवर जैसी लगती है। इसका एक सिरा बड़ा अर्ध गोलाकार और दूसरा पहले की अपेक्षा छोटा अर्ध गोलाकार होता है। बड़े सिरे के ठीक मध्य भाग में किनारे की ओर ज़री या रेशम के धागों से कढ़ा सफेद कपड़े का एक चौकोर टुकड़ा सिला रहता है, जिसे 'ज़ोजिताल' कहते हैं।

'ज़ूज्य' दो प्रकार की होती है—एक जो नववधुओं को शादी पर पहनाई जाती है और दूसरी जो आम दिनों में महिलाओं

द्वारा प्रयुक्त होती है। पहली किस्म की 'ज़ूज्य' 'माहर्यत्रि ज़ूज्य' यानी दुल्हनों की ज़ूज्य कहलाती है। इस किस्म की ज़ूज्य का कपड़ा अच्छा एवं कीमती होता है तथा इसकी सजावट किनारों को ज़री से काढ़ कर तथा शेष भाग को सल्मे-सितारों से सजा कर की जाती है। आम दिनों में पहनने वाली 'ज़ूज्य' के दाएँ-बाएँ किनारों पर मामूली-सी कढ़ाई रेशम के धागों द्वारा की गई होती है।

'कलपुश' बिठाने के बाद इसके ऊपर 'ज़ूज्य' इस प्रकार रखी जाती है कि इसका 'ज़ोजिताल' वाला भाग कपाल को ढँकनेवाले ज़रबफ्त के ठीक मध्य में आये और 'ज़ूज्य' का शेष भाग कानों के ऊपरी हिस्से तथा गर्दन को आच्छादित करता हुआ पीछे पीठ पर लटकता रहे।

3. तरुॅन्गॅु[2] : यह लगभग तीन-साढ़े तीन इंच चौड़ी तथा अस्सी-पचासी इंच लम्बी बढ़िया लट्ठे की पट्टी होती है। इस पट्टी को धोबी से धुलवा, चावल की पीच, पानी तथा अबरक का चूर्ण मिला कर क़लफ चढ़ाया जाता है। सूखने के बाद इसके एक छोर के लगभग अट्ठारह-बीस इंच हिस्से को किसी समतल रन्दा किये फट्टे पर फैला कर शीशे की बोतल के पेंदे से तब तक रगड़ा जाता है जब तक इसमें खूब चमक एवं चिकनाहट न आ जाए। इस रगड़ने की क्रिया को 'मोहरॅंद्युन' कहते हैं और 'तरुॅन्गॅु' के इस भाग को 'मोहरॅलाठ'।

'कलपुश' बिठाने और 'ज़ूज्य' पहनाने के पश्चात् 'तरुॅन्गॅु' के चमकीले छोर के प्रतिकूल छोर से तहाना आरम्भ किया जाता है। तहाने का काम ऐसे होता है कि 'तरुॅन्गॅु' की लम्बाई में इसे दोनों ओर से थोड़ा-थोड़ा मोड़ देते हैं, फिर दोनों मुड़े हुए भागों को एक-दूसरे पर लाकर तहा देते हैं। तहाई पट्टी की चौड़ाई लगभग एक इंच या तनिक ज्यादा रहनी चाहिए। (कम चौड़ाई वाला 'तरुॅन्गॅु' कम उम्र की तथा इससे अधिक चौड़ाई वाला अधिक उम्र की महिलाएँ बँधवाती थीं।) इसी तहाई पट्टी को 'कलपुश' के माथे के ऊपर के भाग पर, माथे की ओर तनिक-सा किनारा छोड़, कई बार एक के ऊपर एक लपेट लेते हैं। पट्टी का चमकीला भाग या 'मोहरॅलाठ' सब से ऊपर रहता है। तहें अपनी जगह जमी रहें, इसके लिए तहों के बीच जगह-जगह पके चावल के कुछ दाने मसले जाते हैं। आखिर में पीछे की ओर दाएँ-बाएँ सभी तहों को समेटकर सिलाई की जाती है।

4. द्रदॅलाठ : 'द्रदॅलाठ' आर्ट या सेमीआर्ट पेपर की डेढ़ दो इंच चौड़ी व नौ-साढ़े नौ इंच लम्बी पट्टी होती है। इस पट्टी को 'तरुॅन्गॅु' की तह की चौड़ाई के अनुरूप तहा कर यानी लम्बाई में छोरों को मोड़ कर, 'तरुॅन्गॅु' की ऊपरी तह पर रख कर तथा दाएँ-बाएँ सिलाई द्वारा जमा दिया जाता है।

5. शीशिलाठ : 'शीशिलाठ' मोटे ट्रांस्पेरेन्ट पेपर की पट्टी होती है। इसे 'तरुॅन्गॅु' की तह की चौड़ाई के अनुरूप बना कर दाएँ-बाएँ सिलाई करके लगाया जाता है।

6. सूइयाँ : 'शीशिलाठ' के ऊपर, कानों की ओर, एक-एक या दो-दो (समानान्तर) सूइयाँ 'तरुॅन्गॅु' में आड़ी (ताकि इनकी नोंक सिर में न चुभे) लगाई जाती हैं। आयु में बड़ी महिलाएँ काले सिरों वाली तथा कम उम्र की महिलाएँ सोने के सिरों वाली सूइयों का प्रयोग करती थीं। सूइयों से एक तो 'तरुॅन्गॅु' की मज़बूती बनी रहती है और दूसरे इसकी खूबसूरती में भी वृद्धि हो जाती है।

7. पूच़ : 'पूच़' मलमल का लगभग पौन मीटर चौड़ा तथा दो - सवा दो मीटर लम्बा टुकड़ा होता है। इस टुकड़े को लम्बाई में दो बराबर हिस्सों में काटा जाता है। कटे हिस्सों को पुनः एक विशेष स्टिच द्वारा, जो आकार में मछली की रीढ़ की हड्डी की तरह बनता है, जोड़ दिया जाता है। जोड़ने के बाद इसे लम्बाई में दुगुना कर दिया जाता है, फिर उस छोर को जहाँ से कपड़ा मोड़ा होता है, चुन्नटों में समेट कर तथा इसके मध्य भाग को ऊपर की ओर खींच कर बाएँ हाथ से मज़बूती से पकड़ा जाता है फिर निचले कोनों को दाएँ हाथ से क्रमशः धीरे-धीरे खींच कर तर्जनी और अँगूठे से बटा जाता है। बढ़ते समय भी इन्हें कई बार खींचा जाता है। इसके बाद बाईं मुट्ठी में पकड़े भाग को छोड़ इसके नीचे वाले भाग को दाएँ घुटने पर रख कर तथा चावल की पीच लगा-लगा कर दाईं हथेली से ऊपर की ओर स्टिचिज़ तक बटा जाता है। इसी प्रकार दूसरे अनबटे भाग को भी इसी तरह बटा जाता है कि दोनों बटे भाग आमने-सामने आ जाएँ और बीच में स्टिचिज़ रहें। इस प्रकार बटने पर बाईं हथेली के नीचे वाले भाग मोटे और क्रमशः पतले होते जाते हैं और नीचे दो भागों में बँट कर साँप की पूँछ की तरह बन जाते हैं।

बटने के बाद बाईं मुट्ठी के हिस्से को बटे हुए भाग की ओर मोड़ कर तथा इसके ऊपर शेष भाग को मज़बूती से गोल-गोल चढ़ा कर खीरे की आकृति-सी दी जाती है। इस पूरी प्रक्रिया को 'बोंदकरुन', यानी समेट कर बाँध के रखना, कहते हैं। 'बोंद' करके 'पूच़' को सूखने के लिए धूप में रखा जाता है। सूखने पर जब इसे खोला जाता है तब इसकी आकृति दो दुम वाले बल खाते फणियर साँप जैसी हो जाती है। फण-से दिखने वाले भाग को 'कलपुश' के ज़री के बने भाग पर रखकर, सामने (माथे के ऊपर) के भाग को थोड़ा छोड़ कर, पीठ पर लटका देते हैं। फण जैसा हिस्सा अपनी जगह पर बना रहे,

इसके लिए सिलाई वाली सुई इस पर लगा देते हैं, ठीक वैसे ही जैसे काग़ज़ों में आलपिन लगाते हैं।

लद्दाखी महिलाओं के पेराख़ और कश्मीरी पण्डिताइनों की 'पूच़' में यह समानता है कि दोनों साँप की आकृति की लगती हैं। हाँ, 'पेरायें' एक दुम वाले साँप और 'पूच़' दो दुम वाले साँप-सी लगती हैं। जहाँ 'पेराय' कुआँरी कन्याओं तथा छोटी बच्चियों द्वारा भी पहना जाता है, वहाँ 'पूच़' या यूँ कहें 'तरुँन्गुँ' केवल ब्याहताएँ ही पहन सकती हैं। कोई महिला यदि स्वयं 'तरुँन्गुँ' बाँधने में सिद्धहस्त हो तो वह अपने लिए किसी कुआँरी कन्या के सिर पर 'तरुँन्गुँ' बाँध सकती है, पर उसे 'ज़ूज्य' नहीं पहना सकती, क्योंकि कुआँरी कन्याओं के सिर पर 'ज़ूज्य' रखना वर्जित है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि 'ज़ूज्य' गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुई महिला की निशानी है। पुरानी पीढ़ी की महिलाओं को प्राय: कहते सुना है — 'ही बगुँवानुँ स्येज़ ज़ूज्य तुँ थ्वोँद तरुँन्गुँथव तम' — यानी हे प्रभु, मेरा गृहस्थ जीवन सफल हो तथा मैं (ससुराल में सदा) समादर पाऊँ। इस प्रार्थना-वाक्य से भी यही इंगित होता है कि 'ज़ूज्य' महिला के वैवाहिक जीवन का ही प्रतीक थी।

जिस प्रकार टोपी या साफ़ा पुरुष की इज़्ज़त का प्रतीक माना जाता है, उसी प्रकार 'तरुँन्गुँ' स्त्री की इज़्ज़त का प्रतीक है। उक्त प्रार्थना-वाक्य में 'थ्वोँद तरुँन्गुँ' (ऊँचा तरुँन्गुँ) से यही ध्वनित होता है। इसी प्रकार कश्मीरी भाषा के एक और मुहावरे — तरुँन्गुँ वालुन (तरुँन्गुँ उछालना) — से भी यही ध्वनि निकलती है।

वैसे 'तरुँन्गुँ' आवश्यकतानुसार कभी भी, अशुभ दिन को छोड़, बँधवाया जा सकता था; पर निम्नलिखित शुभावसरों पर तरुँन्गुँ बँधवाना अनिवार्य था —

1. पति के जन्मदिन पर, 2. अपने जन्मदिन पर, 3. सन्तान के जन्मदिन पर, 4. पुत्र के यज्ञोपवीत संस्कार पर, 5. सन्तान के विवाह-संस्कार आदि पर। इन अवसरों पर नेग के रूप में एक थाली या किसी पात्र में एक-दो किलो चावल, थोड़ा-सा (कम से कम पचास ग्राम) नमक तथा अपनी-अपनी हैसियत के हिसाब से कुछ रुपए रखे जाते हैं। जब 'तरुँन्गुँ' बाँधने वाली 'तरुँन्गुँ' बँधवाने वाली के सिर पर 'कलपुश' बिठा कर इस पर 'ज़ूज्य' रखती है तो उस समय कोई कन्या 'तरुँन्गुँ' बँधवाने वाली महिला के दाएँ कन्धे से चावल, नमक तथा रुपयों वाला पात्र तीन बार छुआती है। इसे 'ज़ंगियुन' तथा चावल आदि सामान को 'ज़ंग' कहते हैं। आजकल की महिलाओं में उक्त शुभावसरों पर नई साड़ी बाँधने का रिवाज चल पड़ा है, अतः 'ज़ंग' का रिवाज स्वत: ही समाप्त हो रहा है।

कश्मीरी संस्कृति में रुचि रखने वाले कई विद्वानों का मत है कि 'पूच़' नागों[3] के प्रभाव का परिणाम है तथा इस प्रजाति को समुचित आदर देने के लिए प्रतीक रूप में कश्मीर का महिला समाज इसे ('पूच़' को) अपने सिर पर उसी प्रकार धारण करता रहा है, जिस प्रकार हर वर्ष भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी के दिन कश्मीरी पण्डित 'अनथ' (चौदह गाँठों से युक्त एक सूत्र) धारण करते आ रहे हैं।[4]

कई अन्य विद्वानों की धारणा है कि 'पूच़' प्रकृति और पुरुष के मिलन का प्रतीक है। इसी कारण मलमल के दो टुकड़ों को जोड़ कर इसे बनाया जाता है। कुछ अन्य विद्वान इसे शिव और शक्ति का प्रतीक रूप मानते हैं। उनका तर्क है कि नारी शक्ति का प्रतिरूप है ही और 'पूच़' शिव के जटाजूट पर विद्यमान रहने वाले साँप के व्याज से स्वयं शिव का। चूँकि कश्मीर अनन्त काल से शिव-शक्ति का उपासक रहा है, अत: पूच़ का सम्बन्ध शिव-शक्ति के मिलन से ही है।

अपने समय में 'पूच़' कितनी ज़रूरी एवं लोकप्रिय थी तथा इसने कश्मीरी लोक-जीवन को किस सीमा तक प्रभावित किया था, इसका अन्दाज़ा कश्मीरी की, सुई-धागा के लिए प्रयुक्त, निम्न पहेली से सहज ही लगाया जा सकता है —

'अड़ गज़ मामन्य ड्वड गज़ पूच़'

यानी, आधा गज़ लम्बाई वाली मामी ने डेढ़ गज़ 'पूच़' सिर पर धारण कर रखी है।

यज्ञोपवीत तथा विवाह-संस्कार पर किये जाने वाले 'दिवुँगोन' यानी देव-पूजन के अवसर पर 'पूच़' के सिर पर रखे जाने वाले भाग पर दही और सिन्दूर के घोल से स्वस्तिक, षट्कोण अथवा कोई अन्य मांगलिक चिन्ह उकेरा जाता है। पूच़ पर बनाये गये इस चिन्ह को 'ट्यक्यताल' कहा जाता है। इन शुभ अवसरों पर 'ट्यक्यताल' वाली 'पूच़' पहनना संस्कार्य लड़के-लड़की की दादी, माँ, ताई तथा चाची के लिए अनिवार्य होता है। सिन्दूर के घोल से 'ट्यक्यताल' बनाने की बजाय काग़ज़ पर बनी 'ट्यक्यताल' का भी रिवाज़ था। आजकल चूँकि साड़ी का ही प्रचलन है, अत: साड़ी के पल्लू के उस भाग पर, जो सिर पर रहता है, विभिन्न रंगों की पन्नियों से बनाई गई 'ट्यक्यताल' लगाने का प्रचलन है। 'ट्यक्य पूच़' के सन्दर्भ में 'वनुँवुन' के निम्नलिखित दो टुकड़ों पर सहज ही ध्यान जाता है—

ट्यक्य पूच़ पानुँ छख तालिप्यठ खारान
यायिमस छख करान ल्वलुँमतुँलाय।।

यानी, अरी तुम 'ट्यक्य पूच़' सिर पर धर कर बहुत ही कार्य-व्यस्त दिख रही हो।

ट्यक्य पूचि़ चाने अरतलि वॅथुर
म्यथॅुर आय गुलिम्यूठ करॉने।।

– अरी, तुम्हारी 'पूच़' पर लगी 'ट्यक्यताल' पर (विविध रंगों की) पन्नी से बने (शुभ) चिन्ह लगे हैं। री, देख तो तुम्हारे पारिवारिक मित्रगण (बधाई व नक़द) भेंट देने आये हैं।

यज्ञोपवीत या विवाह-संस्कार के उपलक्ष्य में जब कोई महिला 'तरुॅन्गॅु' बँधवा रही होती है, तो 'वनवुन' गाने वाली महिलाएँ 'वनवुन' के निम्न अंश अवश्य गाती हैं —

दण्डरववन खॅचॅुखय नॉरी - नॉरी
दिवॅुकीमॉली तरुॅन्गाह गण्ड।।

— री, देवकी री ! (इस सम्बोधन के स्थान पर 'तरुॅन्गॅु' बँधवाने वाली महिला का नाम लिया जाता है) तुमने इस शुभअवसर के लिए काफी परिश्रम किया है, अब (इस खुशी के मौके पर) एक सुन्दर-सलोना सा 'तरुॅन्गॅु' बँधवा लो।

और —

तरुॅन्गस चॉनिस ताह गव थोॅदये
वलनतय मालिन्यव क्याह ल्वदये।।

—तुम्हारे 'तरुॅन्गॅु' का तह अतीव मनोहर बन पड़ा है, अरी, तो बता, तुम्हारे मैके वाले क्या-क्या सौगात लेकर आ गये?

सप्तपदी से पहले जब दुल्हन को 'तरुॅन्गॅु' बाँधा जा रहा होता है तो 'वनवुन' का गायन करने वाली महिलाएँ 'वनवुन' की निम्न पंक्तियों द्वारा 'तरुॅन्गॅु' बाँधने वाली को मानो चेताते हुए एवं दुल्हन को आशीर्वाद देते हुए गाती हैं –

मोहरय छलुनस वारॅ - वारॅ कर्यज़्यस
ओबरॅमायि करिज्यिस अन्दवन्द ताम।।

अर्थात्–(री, दुल्हन को 'तरुॅन्गॅु' बाँधने वाली !) 'तरुॅन्गॅु' के चमकीले छोर को ज़रा ध्यान से हाथ लगाना — कहीं असावधानीपूर्वक पकड़ने से यह खराब न हो जाए ! देखना, पूरे 'तरुॅन्गॅु' पर अबरक-चूर्ण मिला कलफ चढ़ा है, अत: आरम्भ होने से सम्पन्न होने तक सावधान रहना !

तथा —

1. तरुॅन्गस चॉनिस ताह गव थोॅदये
   ग्वण्डनय बोवानि तुॅ इ्यकुॅबॅड आस।।
2. तरुॅन्गाह ग्वण्डॅमय इ्यकुबजि रुतुये
   द्युतये मलिन्युक फ्रूच नीर्यनय।।
3. माजिरॉज्ञायि दिच़ इ्यकुॅप्रज्ञि पूचॅुय
   स्यॅज़ ज़ूज्य थ्वोॅद तरुन्गॅु पूशीनॉय।।

अर्थात् —

1. (री, दुल्हनिया !) तुम्हारे 'तरुन्गॅु' का तह बहुत ही अच्छा हुआ, (इसे देख कर ऐसा लगता है कि इसे तुम्हारे सिर पर स्वयं) भवानी ने बाँधा है। री बिटिया, तुम्हारा सुहाग सदा बना रहे, तू सर्वदा सुखी रह !

2. सुहागवती तनया को बहुत ही सलोना-सा 'तरुॅन्गॅु' बँधवाया, (प्रभु करें कि) मैके की दी हुई हर वस्तु तुम्हारे लिए मंगलमय सिद्ध हो।

3. जगदम्बा भगवती राजा ने स्वयं हमारी गौर वर्ण बिटिया के सिर पर 'पूच़' पहना दी। जगज्जननी से अब हमारी यही प्रार्थना है कि हमारी बिटिया का सुहाग बना रहे तथा यह आजीवन बहुत ही इज़्ज़त पाती रहे !

कश्मीरी पण्डित महिला को 'तरुॅन्गॅु' का सामान खरीदने मुश्किल से ही कभी बाज़ार जाना पड़ा हो, क्योंकि इस सामान को लेकर फेरी वाले गली-गली घूम-घूम कर अपने ख़ास अन्दाज़ व लहजे में आवाज़ लगाते थे - ज़ोज़ि मा ! ज़ोज़ि मा !! पूचॅु मा ! पुचॅु मा !! कलपुश्य मा बी ऽऽ -- यानी ज़ोज़ि[5] ले लो, पूचॅु [6] ले लो, कलपुश्य [7] ले लो ! इन फेरी वालों को द्राल कहा जाता था। द्राल एक बड़ी-सी पोटली बाएँ कंधे पर लटकाये अपने विशेष लहजे़ से खरीदारों को आकृष्ट करते हुए बहुत ही अच्छे सेल्समैन हुआ करते थे और अपनी मीठी-मीठी बातों से खरीदार को खरीदारी करने पर आमादा करते।

घर से बाहर जाने पर कश्मीरी पण्डित महिला 'दॅज्य' या 'व्वोॅडुपलव' सिर पर ज़रूर रखती थी। कहीं नज़दीक जाना होता तो 'दॅज्य' का, दूर जाना होता तो 'व्वोॅडुपलव' का प्रयोग अवश्य करती। 'दॅज्य' लगभग डेढ़ फुट × तीन फुट सफेद कपड़े का टुकड़ा होता था, जिसके चारों ओर तारकशी की होती तथा चारों कोनों पर फूल-पत्ते काढ़े होते थे। यह शिरोवस्त्र 'तरुॅन्गॅु' के ऊपर ऐसे पहना जाता कि इसके दो कोने पीछे पीठ की ओर और दो कोने सामने कन्धों तक लटकते रहते। 'व्वोॅडपलव' दो प्रकार का होता था — एक जाड़ों में प्रयोग में लाया जाने वाला गर्म कपड़े का और दूसरा गर्मियों में प्रयोग में लाया जाने वाला सफेद बारीक मलमल का। गर्म 'व्वोॅडुपलव' रंगीन रफ़ल या रंगीन पश्मीने का शॉल जितनी लम्बाई-चौड़ाई का होता था, सर्द या गर्मियों में पहना जाने वाले 'व्वोॅडुपलव' भी इतनी ही लम्बाई-चौड़ाई का हुआ करता था। बिना 'दॅज्य' या 'व्वोॅडुपलव' के बाज़ार में चलना बेशर्मी की अति माना जाता तथा इसे गँवारपन की निशानी माना जाता। 'दॅज्य' तथा सर्द व्वोॅडुपलव पर अबरक-चूर्णयुक्त क़लफ अवश्य चढ़ा रहता।

व्वोॅडुपलव को लम्बाई में दुगुना करके सिर पर ऐसे स्थापित (सेट) किया जाता कि पीछे यह कमर तक तथा सामने वक्षों

को आच्छादित किये रहता। सिर के ऊपर इसके मध्य भाग को अंग्रेजी के 'ए' अक्षर का आकार दिया जाता, जिससे यह माथे के ऊपर 'तरॅन्गु' के ज़रा से भाग को न ढँके। सामने के दो छोरों को मिला कर रखने के लिए सेफ्टीपिन या ऑल-पिन लगाई जाती।

'दॅज्य' को हम बड़ा रूमाल कह सकते हैं। यह प्रायः अच्छी किस्म के सफेद लट्ठे से ही बनाई जाती है। इसे भी 'व्वोंडुपलव' की तरह ही प्रयोग में लाया जाता है।

कहा जाता है कि 'व्वोंडुपलव' का प्रयोग कश्मीर में पठान शासन से ही आरम्भ हुआ। यह शिरोवस्त्र महिलाओं को अपना रूप-लावण्य छिपाने के लिए विवशतावश अपनाना पड़ा था, जो कालान्तर में शिरोभूषा का एक अनिवार्य अंग ही बन गया।

संदर्भ

1. पुराणों में हिमालय के पाँच खण्ड माने गये हैं, यथा —

    खण्ड : पंच हिमालयस्य कथिता
    नेपाल कूर्मांचलौ
    केदारोऽथ जलन्धोथ रुचिर:
    कश्मीर संज्ञोतिम:।।

2. The woman were a skull cap surrounded by a ...... fillet of white cloth in case of Pandit woman.

    — Keys to Kashmir, Page : 33.

3. कश्मीर का भू-भाग प्राक् ऐतिहासिक युग के आरम्भ से ही नार्डिक नाग प्रजाति का एक प्रमुख क्रीड़ास्थल रहा है।
4. भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी के दिन अनन्तनाग-नरेश के उपलक्ष्य में एक उत्सव आयोजित होता है। कश्मीर के हर गाँव, जनपद और नगर से हिन्दू लोग (नागॅवल, त्रागुबल, देवीबल आदि स्थानों पर) आकर उत्सव में सम्मिलित होते हैं और चौदह गाँठों का एक सूत्र गले में डालते हैं। वस्तुतः चौदह गाँठों का यह सूत्र चौदह राजकीय आज्ञाओं को स्वीकारने की एक शपथ अथवा चौदह आदेशों की परिपालना का वार्षिक उत्सव हुआ करता था।

    — कश्मीर की नाग प्रजाति, एक ऐतिहासिक धरातल, डॉ. त्रिलोकीनाथ गंजू।

5. 'ज़ूज्य' का बहुवचन।
6. 'पूच़' का बहुवचन।
7. 'कलपुश' का बहुवचन।

ड्यजिहोर

अपने देश की अधिसंख्य महिलाएँ जिन-जिन आभूषणों से अपने को सजाती-सँवारती हैं, प्राय: उन सभी आभूषणों का उपयोग कश्मीरी पण्डित महिलाएँ भी करती हैं। पर इन आभूषणों के अतिरिक्त कश्मीरी पण्डित महिलाएँ एक अतिविशिष्ट आभूषण का प्रयोग भी करती हैं जिसे पहनने के लिए उसे बचपन से ही तैयारी करनी पड़ती है। यह तैयारी है कनछेदन। पुराने कश्मीरी पण्डित घरानों में बच्ची के पाँच-छह वर्ष की आयु की होने पर ही शुभमुहूर्त में कान छिदवाने का रिवाज़ था। वैसे प्राय: लड़कियों के कान के निचले, लटकते-से, नर्म भाग को ही छिदवाया जाता है, पर कश्मीरी पण्डित परिवारों में बच्ची के कर्णविवर-मुख के ठीक सामने के नर्म हड्डी वाले हिस्से को भी छिदवाया जाता है। इसी छेद में कन्या के विवाह के एक-दो दिन पहले 'दिवुगोन' नामक अनुष्ठान पर लाल डोरी या मौलि में पिरो कर 'ड्यजिहोर' पहनाया जाता है। कहा जाता है कि यह महिला की गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने तथा इस आश्रम की ज़िम्मेदारियाँ उठाने की निशानी है।

'ड्यजिहोर' एक स्वर्णाभूषण है, जिसकी आकृति गोलाई लिये षट्कोण की होती है और जो अन्दर से पोला होता है। इसके दो समानान्तर छोरों के बीच दो छेद होते हैं। इन छेदों से डोरी गुज़ार कर कानों के छेदों में से गुज़ारी जाती है और डोरी के दो छोरों को मिलाकर गाँठ मार दी जाती है। 'ड्यजिहोर' के नीचे डोर के मध्य भाग में धागों, धागों में पिरोये मोतियों या कलाबत्तू आदि के लम्बे फुंदने लटकाये जाते हैं। इन फुंदनों को 'अटुँहोर' कहते हैं। डोरी की लम्बाई इतनी होती है कि 'ड्यजिहोर' तथा 'अटुँहोर' अंगना के उरोजों तक लटकता रहे। इस डोर को कश्मीरी में 'अठ' कहते हैं। समय गुज़रने के साथ सूती 'अठ' का रिवाज़ समाप्त हो गया और इसकी जगह ले ली सोने की चेन यानी सोने की 'अठ' ने।

'अटुँहोर' के विषय में इस बात का उल्लेख करना भी ज़रूरी है कि जब घर में कोई उत्सव रचाया जा रहा हो; महिला के पति का जन्मदिन हो या स्वयं महिला का जन्मदिन हो, बेटे-बेटी का विवाह हो, बेटे का यज्ञोपवीत-संस्कार हो या बेटे का जन्मदिन आदि हो तो महिला इस दिन नया अटुँहोर पहनती है; बल्कि यह कहा जाना चाहिए कि इस दिन महिला का नया अटुँहोर पहनना अनिवार्य है। हालांकि आधुनिकता के रंग में पूरी तरह से रँग गई महिलाएँ अब इसकी ओर ध्यान नहीं देतीं।

आज से कुछ दशक पहले 'ड्यजिहोर' के साथ एक और आभूषण हुआ करता था, जिसे 'तालुॅरज़' कहा करते थे। 'तालुॅरज़' सोने की निम्नलिखित वस्तुओं को एक मजबूत डोरी में पिरोने से बनती थी। ये चीज़ें थीं — 'टगुॅल्वोट' : यह लगभग शहनाई के आकार का एक ट्यूब-सा होता था[1]। इसे 'ड्यजिहोर' के छेदों में डोर के दोनों सिरों को गुज़ारने के बाद 'ड्यजिहोर' के ऊपर डोर में पिरोया जाता। इसके ऊपर सोने का मनका, जिसे 'त्वरवमुँ फ्वोल' कहते, पिरोया जाता। इसके ऊपर 'ब्रॅट' लगाई जाती। 'ब्रॅट' आज की अठन्नी जितना सोने का सिक्का- सा होता, जिसकी खड़ी अवस्था में ऊपर-नीचे सोने के ज़रा-ज़रा से वृत्त टाँके होते। 'ब्रॅट' के ऊपर 'नदुॅर्य' पिरोये जाते। 'नदुॅर्य' आधा सेंटीमीटर चौड़े तथा लगभग तीन सेंटीमीटर लम्बे सोने के समकोण चतुर्भुज होते। इनकी संख्या चौदह या सोलह रहती। इनके लम्बाई के समानान्तर छोरों में छेद होते, इन्हीं छेदों से डोरी गुज़ारी जाती। ये आकार में चूँकि कमल-ककड़ी से काफी मिलते, इसीलिए इनका नाम कमल-ककड़ी का कश्मीरी पर्याय 'नदुॅर्य' रखा गया था। 'लालुॅरज़' की लम्बाई महिला के कपाल से लेकर 'ड्यजिहोर' के छेदों तक की होती है। 'तालुॅरज़' की उक्त चीज़ें इसमें पिरोने के बाद दोनों ओर की डोर के चारों छोरों को बाँध कर 'तरुॅन्गुॅ' के ऊपर, कपाल पर टिकाया जाता था। इससे महिलाओं को दुहरा लाभ होता था— एक 'ड्यजिहोर' के पूरे भार का प्रभाव कानों के छेदों पर न पड़ता, दूसरे चेहरे के दाएँ-बाएँ समानान्तर स्वर्ण-टुकड़ों के लटकने से उनकी छवि में चार चाँद लग जाते। वैसे आज की वैज्ञानिक दृष्टि से भी सोना पहनना मानव-शरीर के लिए अच्छा है।

'ड्यजिहोर' कश्मीरी पण्डित महिलाओं का अति प्राचीन एवं विशिष्ट आभूषण है। इसे ठेठ कश्मीरियत की पहचान के रूप में भी विशिष्टता प्राप्त है। कश्मीर चूँकि पुरातन काल से ही शिव एवं शक्ति का सुप्रसिद्ध साधना-स्थल रहा है, अत: यहाँ नारी शक्ति या भवानी के प्रतीक-रूप में समादृत रही है। अनेक कश्मीरी विद्वान इस मत के हैं कि 'ड्यजिहोर' को षट्कोणाकार इसीलिए बनाया गया है, क्योंकि भवानी या जगन्माता—सर्वज्ञाता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्ति तथा अनन्तता — इन छह गुणों से युक्त है। षट्कोणस्वरूपा

जगज्जननी सदा महिला के हृदय में वास करें, उसे गृहस्थाश्रम एवं जीवन का भार वहन करने की शक्ति निरन्तर प्रदान करती रहें। वह हर क्षण अपने को उसी महाशक्ति का अंश समझती रहे। 'इयजिहोरें' को कानों से वक्ष तक लटकाने का विधान इसीलिए रखा गया था कि क्षण- प्रतिक्षण देवी का प्रतीक यह षट्कोणाकार 'इयजिहोरें' उसकी दृष्टि में निरन्तर रहे, ताकि वह भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से अपने कर्तव्य को निभाती रहे तथा जननी के रूप में अपनी सन्तान को सही संस्कार देती रहे। इसीलिए विवाह-लोकगीतों द्वारा महिलाएँ कन्या को बार-बार असीसती हैं—

मॉल्यसुन्द इयजिहोरें नीर्यनय रुत्ॅये।
सुय कूर्य पूशनय आदि अन्त ताम।।

हे पुत्री, पिता का दिया 'इयजिहोरें' तुम्हारे लिए मंगलमय सिद्ध हो, तथा यह आजीवन तुम्हारे साथ रहे। 'मंगलमय सिद्ध होने' तथा 'आजीवन साथ रहने' का अर्थ यही है कि महिला आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों दृष्टियों सदा से अपने कर्तव्य निभाती रहे और उत्तरदायित्वपूर्ण तरीके से निभाती रहे।

कई लोगों की मान्यता है कि मंगलसूत्र की तरह ही इयजिहोर कश्मीरी पण्डित सधवा महिला की सुहाग की निशानी है, पर यह धारणा सही नहीं लगती, क्योंकि एक तो इयजिहोर कन्या को सप्तपदी से दो-तीन दिन पहले ही पहनाया जाता है, दूसरे विधवाएँ पति के न रहने पर भी इसे नहीं उतारतीं, बल्कि पहने ही रहती हैं।

कश्मीरी पण्डिताइनों द्वारा इयजिहोर कब से पहना जाने लगा, इस विषय में सप्रमाण कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस दिशा में अभी लम्बे शोध की आवश्यकता है। कश्मीरी सभ्यता एवं संस्कृति से लगाव रखने वाले एक साहित्यकार श्री मोतीलाल साक़ी 'शीराज़ा (कश्मीरी) के कॉशिर्य आर्जॉयबाथ अंक में संकलित अपने लेख 'कॉशिरिल्वियि मुरुॅच़' (कश्मीर की कांस्य मूर्तियाँ) में लिखते हैं कि "इयजिहोर बुद्ध धर्म की देन है।" आगे चल कर वे लिखते हैं, "कश्मीरी पण्डितों ने जिस प्रकार बुद्ध धर्म का काफी प्रभाव ग्रहण किया, उसी प्रकार इन्होंने इयजिहोर भी इनसे ग्रहण किया। इयजिहोर का महिला से जुड़ना कोई अचरज की बात नहीं। हिन्दू विश्वास के अनुसार नारी शक्ति, सरस्वती, लक्ष्मी तथा दुर्गा का रूप मानी जाती है। चातुर्य एवं बुद्धि का प्रतीक होने के कारण हिन्दुओं, विशेषकर कश्मीरी पण्डितों, ने इयजिहोर को महिलाओं से जोड़ दिया।" कश्मीरी संस्कृति से लगाव रखने वाले दूसरे विद्वान श्री मोतीलाल पुष्कर 'चिनार के पत्ते' नामक पुस्तक में संकलित अपने लेख 'चिरंतन कश्मीर' में इयजिहोर का सम्बन्ध पिशाचों से जोड़ते हैं। इन दोनों महानुभावों की मान्यताओं से सहमत नहीं हुआ जा सकता, क्योंकि अपनी मान्यताओं को प्रस्तुत करते समय ये गहराई से कश्मीरी पण्डितों की आत्मा में झाँक नहीं सके हैं। कश्मीरी पण्डित शाक्त एवं तन्त्रोपासक रहे हैं, इस बात को नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता है। इयजिहोर एक स्वर्णाभूषण होने के साथ एक अमोघ यन्त्र भी है। इस स्वर्ण-यन्त्र के स्वभाव और प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए ही इसे महिला से सम्बन्धित किया गया है तथा यह कश्मीरी-आस्था की ही देन है।

कश्मीरी संस्कृति के सन्दर्भ में इयजिहोर कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, इस बात का अनुमान कश्मीरी शिल्पियों द्वारा विनिर्मित मूर्तियों से भी लगाया जा सकता है। एक कश्मीरी शिल्पी द्वारा निर्मित 52 सेंटीमीटर लम्बी बुद्ध-मूर्ति न्यूयार्क के मैट्रोपालिटन म्यूज़ियम में रखी है। इस मूर्ति के कानों से इयजिहोर लटका दिखाया गया है। यह मूर्ति आठवीं-नौवीं शताब्दी की है। इसी प्रकार श्री प्रताप म्यूज़ियम, श्रीनगर (कश्मीर) में पाषाणनिर्मित एक देवी-मूर्ति है जिसके कानों से इयजिहोर लटका दिखाया गया है। इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इयजिहोर आठवीं शताब्दी से कई शताब्दियाँ पहले पहना जाता रहा होगा।

बुद्ध-मूर्ति को इयजिहोर पहने दिखाना इस बात का संकेत कदापि नहीं माना जा सकता कि इयजिहोर बुद्धधर्म की देन है। अगर यह बुद्धधर्म की देन है तो क्या गैरकश्मीरी शिल्पियों द्वारा निर्मित बुद्ध मूर्तियों को भी डयहिजोर पहने दिखाया गया है ? यदि नहीं, तो यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि इयजिहोर कश्मीरियों की अपनी चीज़ है, किसी और के प्रभाव का परिणाम नहीं। प्रश्न उठता है कि कश्मीरी शिल्पी ने बुद्धमूर्ति को इयजिहोर क्यों पहनाया ? इसके दो कारण हो सकते हैं —एक मूर्ति का कश्मीरीकरण; दूसरा इयजिहोर का शुद्धता, आध्यात्मिकता एवं सृजन-शक्ति का प्रतीक होना। बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद तथा देवी की मूर्ति को कश्मीरी शिल्पियों द्वारा इयजिहोर पहनाना इसी बात का द्योतक है।

आजकल इयजिहोर का तौल तथा आकार क्रमशः कम और छोटा हो गया है। इसी प्रकार 'अठ' की लम्बाई घट गई है। कहीं-कहीं तो 'अठ' बिल्कुल ही विलुप्त हो गई है। आजकल ऐसे इयजिहोर का रिवाज चल पड़ा है जिसकी 'अठ', यानी इयजिहोर और कानों के छेदों से गुज़रने वाली चेन, इतनी छोटी हो गई है कि इयजिहोर कई आधुनिकाओं के कन्धों पर झूलता हुआ नज़र आने लगा है। कई अति आधुनिकाओं ने 'अठ' का झंझट खत्म कर इयजिहोर को अतिलघु रूप दिलवा

कर इसे कान के अन्दर टॉप्स की तरह पहन लिया है। इस सबका कारण आधुनिक फैशन के साथ चलना भी हो सकता है, पर सबसे बड़ा कारण अपने देश में कानून और व्यवस्था का उत्तरोत्तर घोर पतन है। हालत ऐसी है कि महिला सोने के ज़ेवर पहन कर घर से निकली नहीं कि ये उससे दिन-दहाड़े देखते ही देखते छीन लिये गये। इतना ही नहीं, आये दिनों ऐसी खबरें भी आ रही हैं कि आभूषण के साथ महिला का वह अंग भी काटा गया जिसमें उसने आभूषण पहन रखा था। इसी भय से बहुत-सी कश्मीरी महिलाओं ने ड्यजिहोर पहनना ही छोड़ दिया है।

ड्यजिहोर कन्या को मैके की ओर से ही मिलता है, मिलता आया है। इस बात की साक्षी ब्याह-शादी पर गाये जाने वाले लोक-गीतों (वनवुन) के अनेक छन्द हैं, एक-दो का अवलोकन करें—

माल्यसुन्द ड्यजिहोर नीर्यनय रुँतुये
सुय कूर्य पूशनय आदि अन्त ताम।
तथतलुँ शूबी म्बोखतय फ्योतुँये
नारान ह्योतये ऑसीनय।।

अर्थात, री पुत्री, पिता का दिया ड्यजिहोर तुम्हारे लिए मंगलकारी सिद्ध हो; तथा यह आजीवन तुम्हारे साथ रहे। इसके नीचे मोती की लड़ियों वाला फुंदना (अटुँहोर) ही सजेगा। प्रिय तनया, श्रीमन्नारायण तुम्हें सदा सुखी रखें !

और —

कननहुन्द ड्यजिहोर द्युतमय योरय
सुय कूर्य पूशन तुँ वात्यनय अन्द
कननयलि त्रोवुथ दिचुँथम शोलय
हॉर छय तोतस बोलुँनावान।।

यानी – कानों में पहनने का ड्यजिहोर तुम्हें मैके वालों ने दिया। बिटिया, यह आजीवन तुम्हारा साथ दे ! यह (ड्यजिहोर) जब तुमने पहना, तुम आभामय हो उठीं ! तुम मैना ने अपने रूप-लावण्य (के जादू से) से अपने शुक (पिया) को मीठी बोली बोलने के लिए विवश किया।

तथा—

डाय मोहरुँ ड्यजिहोर ग्वोरुँय बबुँग्वन्दरी
छावुहम तुँ स्वन्दुँरी करय हो हो।

—ढाई स्वर्ण-मुद्राओं से तुम्हारे पिता ने तुम्हारे लिए ड्यजिहोर बनवाया। तुम इसे पहनोगी। आ, मैं (स्नेहाकुल हो) तुम्हारी पीठ थपथपाऊँ।

लगता है किसी ज़माने में विजयेश्वर, आज का बिजबिहाड़ा, नामक जनपद ड्यजिहोर बनाने की कला में पूरे कश्मीर में शीर्षस्थ स्थान पर रहा होगा। यहाँ के सुनार ड्यजिहोर को सही आकार-प्रकार देने में सिद्धहस्त रहे होंगे। 'वनुँवुन' का निम्नलिखित टुकड़ा यही इंगित करता है —

सामानुँ क्वोंरमय गोजेवारे
ड्यजिहोर ग्वोरमयव्यजिब्रारे।

— प्रिय बिटिया, तुम्हारी शादी का सामान श्रीनगर के गोजवारा नामक स्थान से मँगवाया और तुम्हारा ड्यजिहोर बिजबिहाड़ा नामक जनपद से।

ड्यजिहोर का तौल कितना हो, यह निश्चित नहीं। हर पिता अपनी हैसियत के अनुसार अलग-अलग वज़न का ड्यजिहोर अपनी पुत्री को देता रहा है। पहले उद्धृत 'वनुँवुन' के टुकड़े में ढाई स्वर्ण मुद्राओं से निर्मित ड्यजिहोर की बात कही गई है। निम्नलिखित टुकड़े में सात स्वर्ण मुद्राओं से बने ड्यजिहोर का ज़िक्र है, देखिए —

सतन मोहरन ड्यजिहोर कस क्युतये
ड्यकय चोनुय ह्योतये छुम।

– सात स्वर्ण मुद्राओं से बना ड्यजिहोर किसके लिए है? बिटिया, तुम्हारे लिए ही तो है। तुम बहुत ही भाग्यशालिनी हो, तुम्हें बहुत ही हितचिन्तक जीवनसाथी मिला है।

एक अद्भुत पदत्राण : पुलहोर

कश्मीरी चावलभोजी हैं, अतः यहाँ की मुख्य फसल धान है। धान के पकने पर जब इसके पौधों से दाने अलग किये जाते हैं तो शेष बची घास को भी बहुत ही सँभाल कर रखा जाता है। किसान इससे भी धनार्जन करते हैं। यह पीली-पीली सूखी घास चौपायों के खाने के अतिरिक्त झोंपड़ियों के छवाने, 'पतुजि' (विशेष प्रकार की मज़बूत चटाइयाँ), 'च़ॉन्गिजि' (छोटे गोल आसन) तथा 'पुलहॉर्य' आदि बनाने के काम आती है।

'पुलहोर' (बहुवचन पुलहॉर्य) एक विशेष प्रकार का कश्मीरी पदत्राण है, जिसे घास से बनाया जाता है। यह पदत्राण आजकल की चप्पल तथा सैंडल से मिलता-जुलता है। 'पुलहोर' शब्द दो शब्दों पुल+होर के योग से बना है। 'पुल' संस्कृत शब्द 'पूलक' का परिवर्तित रूप है। 'पूलक' का अर्थ घास का पुंज, बँधा हुआ ढेर, गट्ठा, मुट्ठा या बंडल है। 'होर' कश्मीरी में जोड़ी या जोड़े को कहते हैं। पूलक या घास से निर्मित होने के कारण ही इस पदत्राण की जोड़ी का नाम 'पुलहोर' पड़ा है।

आज से पाँच-छह दशक पहले 'पुलहोर' का कश्मीर में काफी प्रचलन था। यह कश्मीर के गाँवों में ही नहीं, अपितु शहरों, जनपदों और कस्बों के बाज़ारों में भी बहुतायत से मिलता था, पर आजकल इसका कहीं नामोनिशान भी नहीं। आधुनिकीकरण व जूता-उद्योग के बढ़ते क़दमों ने इसे बिलकुल ही कुचल कर रख दिया है।

'पुलहोर' बनाने की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार हुआ करती थी। सर्वप्रथम धान के सूखे घास के पूलकों के बन्धनों को खोल कर तथा सिरों को पकड़ कर किसी सख़्त चीज़, पत्थर या लकड़ी के कुंदे पर पटका जाता था, ताकि इसका पुआल अलग हो जाए। फिर इस घास को गीला करके कुछ समय के लिए रखा जाता था। नर्म हो जाने पर इससे साधारण मोटाई की रस्सी बटी जाती थी। इस रस्सी से पैरों की माप का ताना-सा तान कर शेष रस्सी से टोकरी की तरह बुनाई की जाती थी। बुनाई करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि पैर के ऊपर के भाग में रस्सियाँ (स्ट्रिप्स) कहाँ-कहाँ आनी हैं। जहाँ 'स्ट्रिप्स' आने होते हैं, वहाँ-वहाँ फन्दे-से डाले जाते थे। फिर इन्हीं फन्दों से रस्सियाँ गुज़ार पदत्राण का ऊपरला भाग (यानी स्ट्रिप्स) बनाया जाता था। तैयार हो जाने पर इन्हें इच्छुक व्यक्तियों या दुकानदारों को बेचा जाता। 'पुलहॉर्य' बुनना उस समय गाँव का एक लघु उद्योग था, तो तत्कालीन किसान की आर्थिक दशा सुधारने का एक ज़रिया भी था।

धान-घास से बुने 'पुलहॉर्य' सख़्त होते थे। इन्हें पहनने से पहले गीला करके किसी लोढ़े से हल्के-हल्के पीटा जाता था। महिलाओं के लिए एक विशेष प्रकार की नर्म घास से 'पुलहॉर्य' बुने जाते थे। इनके ऊपरले हिस्सों (स्ट्रिप्स) को रेशम के धागों के छोटे-छोटे रंग-बिरंगे फुंदनों से सजाया जाता था। इस प्रकार के 'पुलहोर' को 'ज़ाजि पुलहोर' कहा जाता था।

उस ज़माने में कश्मीरी लोक-जीवन के साथ 'पुलहोर' इस क़दर घुल-मिल गया था कि कश्मीरी पण्डित ब्याह-शादियों, अपने सबसे बड़े उत्सव 'हेरथ' (शिवरात्रि) तथा अन्य शुभ अवसरों पर ब्याहता लड़कियों को अन्य वस्तुओं के साथ 'ज़ाजि पुलहोर' भी भेंट में देते थे। और तो और, किसी व्यक्ति का स्वर्गवास होने पर, स्नान के पश्चात् एवं अर्थी पर चढ़ाने से पहले, शव के पैरों में पुलहोर पहनाया जाता था। इससे स्पष्ट है कि इस पदत्राण को कश्मीरी पण्डित एक पवित्र पदत्राण मानते थे। खैर, तत्कालीन मृत्यु-सामग्री भण्डारों पर अन्य वस्तुओं के साथ 'पुलहोर' भी होता था। पितर के दसवें तथा बारहवें दिन की क्रियाओं पर अन्य वस्तुओं के साथ पुलहोर भी दान दिया जाता था।

इस अद्भुत पदत्राण ने कश्मीरी भाषा को भी अपने प्रभाव से वंचित नहीं रखा है। इसने इस भाषा को अनेक मुहावरे दिये हैं, यथा —

पुलुॅ-पॉतव चारुॅन (किसी अभियान के लिए बिलकुल तैयार हो जाना), पुलुहॉरिस प्योमुत (जूती को पड़ी है), ज़्यव छयि किनुॅ पुलहॉर्य ख्वोॅर (क्या बकते हो), प्रॉन्य पुलहॉर्य ख्वोॅर गिलुॅनावुॅन्य (अतीत के बड़प्पन का बखान करना) तथा पुलुॅहासिस व्वोॅथुरिथ (बहुत ही तुच्छ समझना) इत्यादि।

इन मुहावरों के हिन्दी पर्याय क्रमशः इस प्रकार हो सकते हैं —

बोरी-बिस्तर बाँध कर, जूती को पड़ी है, ऊलजलूल बकना, पिदरम सुल्तान बूद तथा जूते की नोक पर मारना।

श्रीनगर (कश्मीर) के बानु महल नामक मुहल्ले में कुछ परिवार थे, जिनकी चिढ़ 'पुलहॉर्य' थी। सम्भवतः इन परिवारों के पूर्वज पुलहॉर्य बनाते रहे हों, बेचते रहे हों, सर्वाधिक पहनते रहे हों या इनके किसी पुरखे की आकृति 'पुलहोर' जैसी रही

हो और तभी इनके कुलनाम की जगह यह चिढ़ चिपकाई गई हो। खैर, कारण जो भी रहा हो, पर आजकल भी इन परिवारों की पहचान यही चिढ़ बनी हुई है।

'पुलहोर' कश्मीर में हर मौसम में पहना जाता रहा है। हाँ, सर्दियों में जब बर्फ गिर रही होती या गिरी होती तो लोग 'पुलहोर' पहन कर बर्फ पर चलने से पहले अपने पैरों के पंजों को गर्म कपड़े (विशेषकर पट्टू) के टुकड़ों से ठीक तरह से आच्छादित कर लेते थे। इन कपड़ों के टुकड़ों को 'नॅम्यदॅज्य' कहा जाता था। अनेक बुजुर्ग लोगों से यह भी सुना है कि चूँकि 'पुलहोर' की सतह तनिक ऊबड़-खाबड़ होती है, अत: चलते समय इससे तलवों के कई स्थानों पर हल्का-सा दाब पड़ता है, जो स्वास्थ्य के लिए बहुत हितकर होता है। यह बात कहाँ तक सही है, इसकी सत्यता प्रमाणित करना आयुर्विज्ञानियों का काम है। 'पुलहोर' की एक और विशेषता है कि यह जमी बर्फ पर फिसलता नहीं। पण्डित नन्दलाल बक़ाया ने, जो व्यवसाय से अध्यापक थे और जिन्हें पर्वतारोहण में अत्यधिक रुचि थी, 'पुलहोर' की इस विशेषता का खूब लाभ उठाया। उन्होंने 16,872 फुट ऊँची हरमुख-पर्वत चोटी पर 'पुलहोर' पहन कर ही चढ़ाई की। इस सम्बन्ध में श्री बक़ाया अपनी अंग्रेजी में लिखी पुस्तक 'हालिडेइंग एण्ड ट्रकिंग इन कश्मीर' के 125वें पृष्ठ पर लिखते हैं —

'द राइटर क्लाइब्ड इट इन 1944 फ्राम द साउथ, यूज़िंग ग्रास शूज़।'

यानी – लेखक इस (हरमुख शिखर) पर दक्षिण की ओर से सन् 1944 ई. में चढ़ा। इस चढ़ाई में घास के जूतों (पुलहोर) का प्रयोग किया गया।

कुल मिला कर कहा जा सकता है कि 'पुलहोर' अपने समय का एक लोकप्रिय, सस्ता व अच्छा पदत्राण रहा है। आजकल यह किसी अजायबघर में हो तो हो, यों यह गाँव के उन घरों में भी नज़र नहीं आता जिन घरों के पुरखों ने इसे बुना-पहना था। क्या पता, कश्मीर के किसी दूर-दराज़ के गाँव में, जहाँ अभी तक नये ज़माने की 'माडर्न' हवा बहुत कम मात्रा में पहुँची हो, कुछ जर्जर वृद्धो के पाँवों में यह आज अन्तिम साँसें ले रहा हो।

कलात्मक बिछावन

कौन नहीं चाहता कि हमारी बैठक सबसे सुन्दर, सजीली, आकर्षक एवं समृद्ध लगे ? इसमें बैठने वाला प्रत्येक व्यक्ति एक सहलाहट का अनुभव कर अलौकिक शान्ति-सी प्राप्त करे, उसके होंठों पर प्रशंसा के वाक्य-दर-वाक्य फूटते जाएँ। आप अपनी बैठक को कितना ही सँवारिए, पर तब तक इसकी हर वस्तु अर्थपूर्ण नहीं लगेगी जब तक कि आप इसके फर्श को, इसके दीवान को सुन्दरता एवं कलात्मकता का स्पर्श न दें। यह स्पर्श देने के लिए बहुत ही उपयुक्त बिछावन हैं गबुं (गबा) और 'नमदुं' (नमदा)। दोनों बहुत ही सुन्दर एवं कलात्मक वस्तुएँ हैं, जिनकी रचना कश्मीरी कलाकारों के सधे हाथों से होती है।

गबा

कहा जाता है कि कश्मीर-नरेश महाराजा गुलाब सिंह (सन् 1850-1853 ई.) कश्मीर के एक गाँव से गुज़र रहे थे। उस गाँव के ग्रामप्रधान ने महाराजा से साग्रह निवेदन किया कि वे कुछ क्षण गाँव में विश्राम करें। महाराजा ने ग्राम-प्रधान की प्रार्थना सहर्ष स्वीकारी। महाराज का आतिथ्य फलों के रस और दूध से किया गया। जब महाराज जाने लगे तो उन्होंने ग्रामप्रधान से वह बिछावन माँगा जो विशेष रूप से उनके बैठने के लिए बिछाया गया था। ग्रामप्रधान ने सहर्ष महाराज की आज्ञा शिरोधार्य करते हुए वह बिछावन तहा कर महाराज के एक अनुचर को थमा दिया। कहते हैं यह बिछावन 'गबा' ही था, जिसकी कलात्मक कढ़ाई, कढ़ाई के लिए प्रयुक्त ऊनी धागों के रंगों के चयन एवं इन सब के गज़ब के प्रभाव ने नरेश को एकदम सम्मोहित किया था। यह घटना स्पष्ट रूप से इंगित करती है कि महाराजा गुलाब सिंह जी के शासन काल तक गबा बनाने की कला ने कश्मीर में कुछ प्रगति अवश्य की थी। इस घटना ने जनता के मन पर भी एक अच्छा मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला होगा। लोगों ने बड़े चाव से 'गबा' बनवाने और खरीदने शुरू किये होंगे तथा इस बिछावन को प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में मान्यता मिली होगी। इस प्रकार इस बिछावन ने धीरे-धीरे अपना विस्तार-क्षेत्र विस्तीर्ण किया होगा तथा इसकी कलात्मकता में दिनोंदिन निखार आता गया होगा।

'गबा' कब से और कैसे अस्तित्व में आया, इस सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक तथ्य नहीं मिलता। पर कश्मीर में इस विषय में दो जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं —

पहली जनश्रुति के अनुसार आज से लगभग दो शताब्दियाँ पहले कश्मीर के अनन्तनाग नामक जनपद में लसुं तोतुं नाम का एक दर्ज़ी रहता था। यह दर्ज़ी बहुत ही ग़रीब था तथा लोगों के कपड़े सीकर बड़ी मुश्किल से अपने परिवार को दो जून की रोटी दे पाता था। एक दिन इस दर्ज़ी ने वे सभी ऊनी कतरनें इकट्ठा कीं जो उसके पास बहुत सालों से जमा हो चुकी थीं। इन कतरनों को दर्ज़ी ने सिलाई कर जोड़ दिया। जुड़ने के बाद यह बिछाने की एक चद्दर बन गई। लोगों ने जब इस चद्दर को देखा तो उन्हें यह आकर्षक एवं विरली वस्तु लगी। उन्होंने भी इस प्रकार की चद्दरें बनानी-बनवानी आरम्भ कर दीं। इस प्रकार अनन्तनाग (कश्मीर) में 'गबा' बनाने की कला का श्रीगणेश हुआ होगा।

दूसरी जनश्रुति है कि कोई अब्दुल रहमान नामक व्यक्ति क़ाबुल से शरणार्थी बन कर कश्मीर आया। इस शरणार्थी ने अनन्तनाग के एक गाँव में शरण ली। कुछ समय के बाद अब्दुल रहमान ने ऊनी कपड़े के एक टुकड़े पर कढ़ाई कर एक ज़ीन तैयार कर ली। आसपास के लोगों ने जब यह ज़ीन देखी तो उन्हें यह बहुत पसन्द आई। उन्होंने भी मोटे ऊनी कपड़ों पर कढ़ाई कर ली और इस प्रकार 'गबा' बनाने की कला की शुरुआत हो गई।

गबा-निर्माताओं एवं कश्मीर हस्तकला में रुचि रखने वाले अधिसंख्य लोगों का मानना है कि गबा कहीं बाहर से नहीं आया, न ही यह किसी विदेशी ने यहाँ आकर आविष्कृत किया। यह कश्मीर के कारीगरों के दिमाग़ की ही मौलिक उपज है। उल्लिखित जनश्रुतियाँ सच्चाई के कितने निकट हैं, यह कहना मुश्किल है। हाँ, यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि गबा-निर्माण-कला अनन्तनाग में ही शुरू हुई और इसकी शुरुआत यहीं के किसी मूल निवासी से हुई। इस कलात्मक बिछावन का नाम कश्मीर में 'अनन्तनॉग्य गबुं' (अनन्तनाग का गबा) के नाम से ही प्रसिद्ध है, हालाँकि इस प्रकार के गबे श्रीनगर, बारामुला तथा कश्मीर के अन्य स्थानों पर भी बनते हैं।

पहले 'गबा' अलग-अलग रंगों के ऊनी कपड़ों को सिलाई द्वारा जोड़ कर तैयार किया जाता था। हाँ, ये टुकड़े अलग-अलग डिज़ाइनों में काटे जाकर आपस में सिले जाते थे और बाद में इसी पर कढ़ाई की जाती थी। आजकल कम्बलों तथा लोइयों को रँग कर इन पर कढ़ाई कर गबे तैयार किये जाते हैं। कढ़ाई आवश्यकतानुसार दुगुने या तिगुने रंगीन ऊनी धागों से 'ऑर' (क्रोशिया-जैसे) उपकरण से की जाती है। कढ़ाई करते समय कारीगर धागों के रंगों के चयन में बहुत सावधानी एवं कलात्मक सूझ बरतता है। कुछ समय से अब गबा दुसूती कपड़े से भी तैयार होने लगा है। इस कपड़े पर भी 'ऑर' से चेनस्टिच द्वारा ऐसे कढ़ाई होती है कि कपड़ा कहीं दिखाई ही नहीं देता। ये गबे इतने सुन्दर, आकर्षक एवं कलात्मक बनते हैं कि कालीन को भी पीछे छोड़ दें, पर कालीन के मुकाबले में इनका दाम बहुत ही सस्ता होता है। दुसूती के ये गबे 'चेनस्टिच' से भी जाने जाने लगे हैं। इनकी कलात्मकता से प्रभावित होकर इन्हें दीवारों पर 'वाल हैंगिंग' के रूप में भी सजाया जाने लगा है।

ये बिछावन छोटे-बड़े सभी आकारों में मिलते हैं। सबसे बड़े आकार का गबा प्राय: बारह फीट × नौ फीट का होता है। इसे फरमाइश पर भी बनवाया जा सकता है। कई लोग इस पर अस्तर लगवा कर रूई भी भरवाते हैं।

समय बीतने के साथ-साथ गबा-निर्माण-कला में निखार एवं स्तरीयता आती जा रही है। जनसाधारण के अतिरिक्त धनाढ्य वर्ग ने भी इस बिछावन को अपने घरों में विशेष स्थान दिया है। इतना ही नहीं, पश्चिमी देशों के पर्यटक भी गबा की सुन्दरता, मोहकता एवं कलात्मकता से इसकी ओर आकृष्ट हुए हैं। कश्मीरी कलाकारों की कपड़े पर धागों से लिखी इस कविता ने दुनिया-भर में अपनी एक अलग पहचान एवं स्थान बना लिया है। प्रति वर्ष लाखों रुपये के गबे विदेशों में निर्यात किये जा रहे हैं। उम्मीद की जाती है कि आने वाले वर्षों में इनका निर्यात उतरोत्तर वृद्धि करता जायेगा, पर शर्त यह है कि कश्मीर में आतंकवाद-अलगाववाद को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त कर दिया जाए।

नमदा

नमदा फर्श, तख्तपोश या दीवान आदि पर बिछाने की वस्तु है। यह सुन्दर, नर्म, गर्म और कलात्मक बिछावन है जो बिना कढ़ाई का भी होता है और कढ़ाई वाला भी। सफेद भी तथा विभिन्न रंगों का भी। बिछाने पर यह कमरे के वातावरण को अनुपम सौंदर्य से जगमगा देता है। बिछाने के अतिरिक्त कई कला-प्रेमी कमरे की शोभा बढ़ाने के लिए इसे दीवार पर टाँग भी देते हैं। जाड़ा में नमदे पर बैठा हुआ व्यक्ति उठ कर कहीं जाना ही नहीं चाहता, क्योंकि नमदा उसे मीठी-मीठी ऊष्मा से सहलाता रहता है। नमदा जाड़ों का बिछावन ही तो है।

नमदा मुख्यत: ऊन से बनता है, पर इसके साथ कुछ मात्रा में रूई भी मिलाई जाती है। कहा जाता है कि इस मिलावट से नमदा अधिक टिकाऊ बन जाता है। नमदा बनाने वाला यानी नमदासाज़ पहले ऊन और रूई को अलग-अलग धुनता है, फिर दोनों को मिला कर किसी चटाई पर धुनी रूई व ऊन की एक तह जमाता है। इस तह के ऊपर साबुन और पानी का घोल छिड़का जाता है। घोल छिड़कने के पश्चात नमदासाज़ अपनी हथेली से इस चटाई की तह को थपथपा कर सम करता है। इसके पश्चात इस पर एक और तह जमाता है और साबुन का घोल छिड़क कर एवं थपथपा कर सम करता है। यह प्रक्रिया आवश्यकतानुसार दो या चार तह लगाने तक दुहराई जाती है। तहें जमाने के बाद चौड़ाई के छोरों पर झालर के रूप में रूई व ऊन के मिश्रण को जमाया जाता है; इसके अनन्तर चटाई को चौड़ाई की ओर से गोल-गोल लपेट लिया जाता है। लपेट कर रस्सी बाँधी जाती है, ताकि चटाई खुलने न पाये। बाँध लेने के बाद पूरी लम्बाई पर क्रमश: पैरों से वज़न डालते हुए इस गोल लपेटी हुई चटाई को कुछ दूरी तक आगे-पीछे लुढ़काया जाता है। यह क्रम कई घंटों तक चलता है, जब तक कि नमदासाज़ को यह विश्वास न हो जाए कि नमदे की तहें पूरी तरह से जुड़ गई हैं और नमदे ने अपना आकार ले लिया है। तदनन्तर रस्सी खोलकर चटाई खोली जाती है और नमदे को चटाई पर से उठा कर धूप में सुखाने के लिए डाला जाता है।

जब नमदे की नमी पूरी तरह से सूख जाती है तो इस पर डिज़ाइन डलवाने के बाद रंग-बिरंगे ऊनी धागों से कढ़ाई की जाती है। कढ़ाई 'ऑर' (क्रोशिया-जैसे उपकरण) से की जाती है। इस प्रकार की कढ़ाई को 'जालकदूज़ी' तथा इसकी कढ़ाई करने वाले को 'जालकदूज़' कहा जाता है। नमदे के चारों ओर हाशिया छोड़ कर कढ़ाई होती है। इन पर प्राय: चिनार के पत्ते, बादाम, हिरण या कश्मीर में पाये जाने वाले फूलों, पत्तों या पशुओं के चित्र उभारे जाते हैं। ये पत्तों, फूलों और पशुओं के हू-ब-हू चित्र नहीं होते, अपितु कलाकार इन्हें अपनी कल्पना-शक्ति से एक ऐसे डिज़ाइन का आकार देता है जो एक अच्छी पेंटिंग का-सा प्रभाव डालने में समर्थ होता है और साथ ही कलाकार की भावनाओं को भी सहजता से सम्प्रेषित करने में सक्षम होता है।

कढ़ाई के पश्चात नमदे को धोया जाता है। इसकी धुलाई बहुत ही सावधानी के साथ की जाती है। इस बात का

ध्यान रखा जाता है कि नमदे की कढ़ाई को तनिक भी क्षति न पहुँचे। धुलाई के लिए प्राय: वितस्ता नदी के समतल घाटों पर नमदे को फैलाया जाता है। फैला कर इस पर पानी डाला जाता है और समतल छोर वाले चप्पुओं से धीरे-धीरे पानी हटाया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है, जब तक नमदा पूरी तरह से साफ न हो जाय।

नमदे कई साइज़ों में मिलते हैं। ये छोटे भी होते हैं और बड़े भी। इनका आकार गोल भी होता है और चौकोर भी। वज़न में ये एक किलो से लेकर आठ किलो तक के होते हैं। श्रीनगर के एक नमदासाज़ ने बातचीत के दौरान बताया कि नमदों की लम्बाई-चौड़ाई प्राय: तीन फीट × दो फीट, चार फीट × तीन फीट, छह फीट × चार फीट, नौ फीट × छह फीट तथा बारह फीट × नौ फीट तक होती है।

क्या नमदा-निर्माण कश्मीर की उपज है या इसे कहीं बाहर से आयातित किया गया है ? इस प्रश्न के उत्तर में अधिकांश अन्वेषकों का विचार है कि यह उद्योग मध्य एशिया की उपज है और वहीं से यह कश्मीर पहुँचा है। कहा जाता है कि पहले-पहल सादे नमदे कश्मीर में यारकन्द से आते थे। कश्मीरी जालकदूज़ इन्हीं यारकन्दी नमदों पर कढ़ाई करते थे और बाद में यही यहाँ से निर्यात होते थे। कश्मीर में कढ़ाई होने तथा यहीं से निर्यात होने के कारण इन नमदों को भी कश्मीरी नमदे ही कहा जाता था। सन् 1940-41 ई. से यारकन्द के नमदे कश्मीर में आना बन्द हो गये। पर चूँकि दुनिया के अनेक देशों में नमदों की माँग बढ़ती ही जा रही थी, इस कारण कश्मीर की ग्रीष्मकालीन राजधानी श्रीनगर में इस उद्योग को स्थापित करने के प्रबन्ध किये गये। मगर इसका अर्थ यह नहीं कि इससे पहले श्रीनगर में नमदे बनते ही नहीं थे। बनते थे, लेकिन बहुत ही कम मात्रा में और ये यारकन्दी नमदों के मुकाबले में निकृष्ट ही हुआ करते थे। कहा जाता है कि सन् 1930 ई. से कश्मीर में नमदा-उद्योग ने वास्तविक विकास पाया और यहाँ अच्छे एवं स्तरीय नमदे बनने लगे। वास्तव में सन् 1938 ई. से ही कश्मीर ने पूरी तरह से अपने नमदे बनाने आरम्भ कर दिये। आजकल नमदा-उद्योग काफी विकास कर गया है और लाखों रुपयों के नमदे बनने लगे हैं। ये कलात्मक नमदे देश के हर प्रान्त में बिकते हैं तथा काफी मात्रा में निर्यात भी किये जाते हैं। दुनिया के देशों में अमरीका कश्मीरी नमदों का सबसे बड़ा खरीदार है। अमरीका सन् 1939 ई. से ही कश्मीरी नमदे खरीदता आ रहा है। इस प्रकार नमदे देश-विदेश में कश्मीर के इस उद्योग की धाक जमा रहे हैं एवं कश्मीरी नमदासाज़ों एव जालकदूज़ों की प्रसिद्धि की घोषणा कर रहे हैं।

कश्मीरी वाद्य

अपने देश के विभिन्न प्रान्तों ने अपनी-अपनी आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए विभिन्न कलाओं को अपना अमूल्य योगदान दिया है। कश्मीर ने जहाँ कय्यट, मम्मट, ललद्यद, महजूर और दीनानाथ नादिम जैसे कवि, नारान मुरचग़र, आर. सी. वान्टू तथा गुलाम रसूल सन्तोष जैसे चित्रकार पैदा किये, वहीं मुहम्मद अब्दुल्लाह तिब्बत बकाल, पृथ्वीनाथ रैणा तथा भजन सोपोरी जैसे संगीतकार भी पैदा किये हैं। यहाँ के कलाकारों ने अपनी आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुए अनेक वाद्यों का भी आविष्कार किया। निम्न पंक्तियों में तीन वाद्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है —

सन्तूर

'सन्तूर' शब्द संस्कृत के 'शततन्त्री' का ही रूप है। यही एक ऐसा वाद्य है जिसका आकार छाज के समान है। इसे प्रायः शहतूत की लकड़ी से बनाया जाता है। शततन्त्री शब्द से स्वतः स्पष्ट है कि सन्तूर की सौ तारें होती हैं। इसकी ये तारें पीतल तथा लोहे की होती हैं। मध्य सप्तक के स्वरों को निकालने के लिए पीतल की तारों और तार सप्तक के स्वरों के लिए लोहे की तारों पर आघात किया जाता है। इसकी ये तारें एक ओर से लोहे की कीलों से बँधी होती हैं तथा दूसरी ओर लोहे की चाबियों से कसी होती हैं। सन्तूर को एक पीठिका पर रख कर बजाया जाता है। इसे बजाने के लिए क़लम का प्रयोग किया जाता है। 'क़लम' पक्षी के पंजे के आकार से मिलता-जुलता एक औज़ार होता है। सन्तूर से पैदा की गई ध्वनि बहुत ही कर्णप्रिय होती है। कश्मीरी सूफयायान क़लाम के गायन के समय इसी वाद्य को बजाया जाता है।

तुम्बखनॉर या तुम्बखनारी

यह एक चर्म वाद्य है। इस वाद्य के नामकरण का आधार भी संस्कृत है—तुम्बुक + नाड़। तुम्बुक का अर्थ कद्दूफल और नाड़ का अर्थ नली (ट्यूब) है। यह वाद्य एक नली की तरह ही पोला तथा लम्बा होता है और इसके व्यास में चमड़ा मढ़ा सिरा देखने में कद्दूफल-सा ही लगता है। इस वाद्य को बजाने के लिए वादक इसे बाएँ बगल में ऐसे रखता है कि चमड़ा मढ़ा सिरा उसकी बाईं जाँघ पर टिका रहे। बाएँ हाथ की हथेली कद्दूफल से दिखने वाले भाग पर ऐसे टिका दी जाती है कि उँगलियाँ चमड़े के ऊपर के हिस्से पर रहें। दाहिने हाथ की उँगलियाँ चमड़ा मढ़े भाग के निचले हिस्से पर रख दी जाती हैं। फिर दोनों हाथों की उँगलियों से चमड़े पर आघात करके इसे बजाया जाता है। इस वाद्य को बजाने में सिद्धहस्त वादक अपनी उँगलियों की हरकत से तुम्बखनारी में ऐसा संगीत पैदा करता है कि सुनने वाला हैरान हो जाता है। इस वाद्य को शादी-ब्याह के मौकों पर महिलाओं द्वारा कई दिनों तक बजाया जाता है। 'दिवुँगोन' (देवपूजन) के अवसर पर जब कन्या को गहने पहनाये जा रहे होते हैं तब कोई कन्या या महिला तुम्बखनारी को एक हाथ से अवश्य बजाती है। कश्मीर लोक-संगीत के एक प्रकार—छकुॅर—में यह वाद्य अवश्य बजता है।

इस वाद्य का नाड़ या नली मिट्टी की होती है, जो लगभग पौन मीटर लम्बी होती है और इसी पर एक ओर चमड़ा चढ़ाया जाता है। इसका निर्माण कुम्हारों द्वारा होता है और उनकी दुकानों पर ही इसे खरीदा जा सकता है।

खुशी के अवसरों, जैसे ब्याह-शादी आदि पर तुम्बखनारी अवश्य बजती है। इसके बग़ैर इन अवसरों पर रंगीनी नहीं आती। इसीलिए ब्याह-शादी पर गाये जाने वाले 'छकरि-गान' की निम्न पंक्ति द्वारा तुम्बखनारी का वादक/वादिका अड़ जाता/जाती है कि उसे पहले धन चाहिए, फिर तुम्बखनॉर बजेगी, देखिए —

> तुम्बखनारे व्ॲपय पज़े
> अदुॅहय वज़े तुम्बखनॉर!

लड़ीशाह

कश्मीरी लोकगीत की एक धारा है लड़ीशाह; पर लड़ीशाह उस व्यक्ति को भी कहा जाता है जो घर-घर, खलिहान-खलिहान जा-जाकर लड़ीशाह गाता है। यह मिरासी-सा ही होता है। जिस वाद्य में ताल पैदा कर लड़ीशाह लड़ीशाह गाता है, उस वाद्य को भी लड़ीशाह के नाम से ही अभिहित किया गया है। लड़ीशाह एक ताल-वाद्य है। यह वाद्य लगभग पौन मीटर लम्बी लोहे की छड़ में दर्जनों लोहे के छल्ले डाल कर बनाया जाता है। छल्ले छड़ से बाहर न निकल आएँ, इसलिए छड़ के दोनों सिरों को मोड़ दिया जाता है।

इस वाद्य को बजाने के लिए इसके एक मुड़े हुए सिरे को वादक बगल से टिका कर दूसरे मुड़े सिरे को बाएँ हाथ में रख कर दाएँ हाथ से लोहे के छल्लों को एक विशेष लय में छेड़ने का क्रम जारी रखते हुए इसमें ध्वनि पैदा करता है और लड़ीशाह एक विशेष अन्दाज़ में गाता जाता है।

लेकिन आजकल लड़ीशाह न तो देखने को मिलता है, न सुनने को और न बज़ाने को ही।
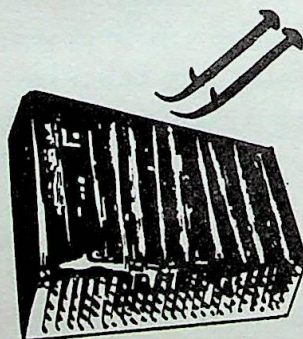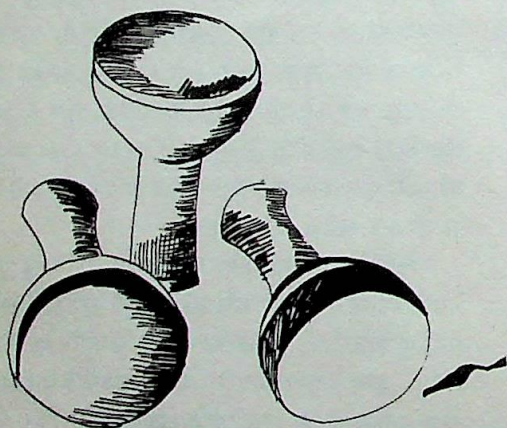
संतूर

संदर्भ-सूची

1. Chronicles of the Kings of Kashmir : By M.A. Stain.
2. The Vally of Kashmir : By Lawrence Walter.
3. Kashmir in Sunlight and Shade : By Tendale Biscoc.
4. History of Kashmir : By P.N.K. Bamzai.
5. Keys to Kashmir : By R.K. Zutshi.
6. The Boat and Boatmen in Kashmir : By Dr. Santa Sanyal.
7. हिन्दू संस्कार : डॉ. राजबली पाण्डेय।
8. वाणी वितस्ता की : पृथ्वीनाथ मधुप।
9. परमानन्द : जे. लाल कौल, मोतीलाल साक़ी।
10. परमानन्द : पृथ्वीनाथ मधुप।
11- Holidaying and Trekking in Kashmir : By Nlbakayer
12. शीराज़ा (कश्मीरी) कॉशिर्य अजॉयवत अंक, प्रकाशक : ज. क. कल्चरल अकादमी।
13. नीलजा, सीरिज़ 3, 4, 5, 6 तथा 7, प्रकाशक: ज. क. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, श्रीनगर।
14. कश्मीरी लोकगीत : मोतीलाल साक़ी।
15. कश्यप भारती : प्रकाश : ज. क. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, श्रीनगर। संपादक : प्रो. चमनलाल सप्रू , श्री पृथ्वीनाथ मधुप, श्री मोतीलाल प्रमोद।

■ ■

लेखक-परिचय

नाम : पृथ्वीनाथ मधुप।

जन्म-स्थान : कश्मीर, तिथि 19.4.1934।

व्यवसाय : स्वतन्त्र लेखन तथा अध्यापन।

प्रकाशित रचनाएँ

कविता : 1. वे मुखरक्षण, 2. खोया चेहरा, 3. खुली आँख की दास्तान (जम्मू-कश्मीर भाषा तथा कला अकादमी से पुरस्कृत।), 4. बबूल के साये में मोगरा।

अनुवाद एवं चयन : 1. कवि श्रीमाला परमानन्द, 2. वाणी वितस्ता की।

भाषा : 1. कश्मीरी स्वयं शिक्षक, 2. कश्मीरी बोलचाल, 3. राष्ट्र-भाषा से जान-पहचान इत्यादि।

सम्पादन : 1. नीलजा (प्रथम तरंग), 2. कश्यप भारती, 3. गल्प-सौरभ, 4. आज की कविताएँ : विस्थापन अंक इत्यादि-इत्यादि।

कश्मीर क्या है ?

क्या वह सिर्फ चिनार का पेड़, डल झील या हाऊस बोट है ?
पहाड़ों, पेड़ों और बर्फ से ढँका
कश्मीर
आज सियासत की आग से घिरा है
इसके धुएँ में गुम हो गई है
उसकी असली पहचान
यह पुस्तक सियासत से अलग,
कश्मीर और कश्मीरियत को
गंभीरता से जानने की खिड़की है ।